

ISSN 0972-1002

# श्रमण ŚRAMAᅇA

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXIV

No.IV

Oct.-Dec.-2013



*Inauguration of 21 Days Prakrit Workshop*



**Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi**

पारश्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

Established : 1937

# श्रमण

## ŚRAMAᅇA

(Since 1949)

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXIV

No. IV

October-December 2013

*Joint Editor*

**Dr. Ashok Kumar Singh**



**Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi**

**(Established: 1937)**

*(Recognized by Banaras Hindu University  
as an External Research Centre)*

## ADVISORY BOARD

**Dr. Shugan C. Jain**

Chairman, New Delhi

**Prof. Cromwell Crawford**

Univ. of Hawaii

**Prof. Anne Valley**

Univ. of Ottawa, Canada

**Prof. Peter Flugel**

SOAS, London

**Prof. Christopher Key Chapple**

Univ. of Loyola, USA

**Prof. Ramjee Singh**

Bheekhampur, Bhagalpur

**Prof. Sagarmal Jain**

Prachya Vidyapeeth, Shajapur

**Prof. K.C. Sogani**

Chittaranjan Marg, Jaipur

**Prof. D.N. Bhargava**

Bani Park, Jaipur

**Prof. Prakash C. Jain**

JNU, Delh

## EDITORIAL BOARD

**Prof. M.N.P. Tiwari**

B.H.U., Varanasi

**Prof. K. K. Jain**

B.H.U., Varanasi

**Dr. A.P. Singh, Ballia**

**Prof. Gary L. Francione**

New York, USA

**Prof. Viney Jain, Gurgaon**

**Dr. S. P. Pandey**

PV, Varanasi

ISSN: 0972-1002

SUBSCRIPTION

*Annual Membership*

*Life Membership*

For Institutions : Rs. 500.00, \$ 50 For Institutions : Rs. 5000.00, \$ 250

For Individuals : Rs. 150.00, \$ 30 For Individuals : Rs. 2000.00, \$ 150

Per Issue Price : Rs. 50.00, \$ 10

**Membership fee & articles** can be sent in favour of

Parshwanath Vidyapeeth, I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-5

**PUBLISHED BY**

**Shri Indrabhooti Barar**, for Parshwanath Vidyapeeth, I. T. I. Road,  
Karaundi, Varanasi 221005, Ph. 0542-2575890

**Email:** pvpvaranasi@gmail.com

**NOTE:** The facts and views expressed in the Journal are those of authors only. (पत्रिका में प्रकाशित तथ्य और विचार लेखक के अपने हैं।)

**Theme of the Cover : Inauguration of 21 Days Prakrit Workshop**

**Printed by-** Mahaveer Press, Bhelupur, Varanasi

## Contents

<b>Our Contributors</b>	<b>IV</b>
<b>सम्पादकीय</b>	<b>V</b>
<b>1. तीर्थकर शान्तिनाथ का जीवन चरित-साहित्य, कला एवं भारतीय परम्परा की पृष्ठभूमि में</b>	<b>1-11</b>
डॉ० शान्ति स्वरूप सिन्हा	
<b>2. भाषा-चिन्तन की परम्परा में जैन दर्शन की भूमिका</b>	<b>12-20</b>
डॉ० अर्चना रानी दूबे	
<b>3. अनेकान्तवाद : उद्भव और विकास</b>	<b>21-30</b>
डॉ० योगेश कुमार जैन	
<b>4. संस्कृत एवं अन्य भाषाओं के जैन कोशों का अध्ययन</b>	<b>31-45</b>
ओम प्रकाश सिंह	
<b>5. Literature on Prakrit Grammar</b>	<b>46-81</b>
Dr. Ashok Kumar Singh	
<b>6. The Siddhacakra and Namokāra Mantra</b>	<b>82-97</b>
Mr. Drew Stephens	
<b>स्थायी स्तम्भ</b>	
पार्श्वनाथ विद्यापीठ समाचार	<b>98-101</b>
साभार प्राप्ति	<b>102</b>



## **Our Contributors**

### **Dr. Ashok Kumar Singh**

Associate Professor & Joint Editor of Śramaṇa  
Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

### **Mr. Drew Stephens**

Working as a Graduate Assistant at Religion Department  
University of Hawaii, specialized area : Introduction to World  
Religions, and specializing in Indian religion/Jainism  
email: drewfarrellstephens@gmail.com

### **Dr. Shanti Swaroop Sinha**

Associate Professor, Visual Art History & Design  
Faculty of Visual Art, Banaras Hindu University, Varanasi

### **Dr. Archana Rani Dubey**

Post-Doctoral Fellow  
JNU, New Delhi

### **Dr. Yogesh Kumar Jain**

Assistant Professor  
Jainology, Comaparative Religion, Philosophy Department  
Jain Vishwa Bharti, Ladanun

### **Sh. Om Prakash Singh**

Librarian  
Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

## सम्पादकीय

श्रमण का अक्टूबर-दिसम्बर २०१३ अंक प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस अंक में हिन्दी के चार और अंग्रेजी के दो लेख सम्मिलित किये गये हैं। हिन्दी में तीर्थकर शान्तिनाथ का जीवन चरित-साहित्य, कला एवं भारतीय परम्परा की पृष्ठभूमि में (डॉ० शान्ति स्वरूप सिन्हा), भाषा-चिन्तन की परम्परा में जैन दर्शन की भूमिका (डॉ० अर्चना रानी दूबे), अनेकान्तवाद : उद्भव और विकास (डॉ० योगेश कुमार जैन), संस्कृत एवं अन्य भाषाओं के जैन कोशों का अध्ययन (ओम प्रकाश सिंह) तथा अंग्रेजी में *Literature on Prakrit Grammar* (Dr. Ashok Kumar Singh), *The Siddhacakra and Namokāra Mantra* (Mr. Drew Stephens) लेख प्रकाशित हो रहे हैं। हमें यह बताते हुए सन्तोष का अनुभव हो रहा है कि वर्ष २०१३ अकादमीय गतिविधियों की दृष्टि से उल्लेखनीय रहा है। जैन विद्या पर १५ दिवसीय राष्ट्रीय कार्यशाला लगातार तीसरी बार आयोजित हुई। इसी प्रकार प्राकृत भाषा के विकास के अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु प्राकृत भाषा एवं साहित्य पर ९ दिवसीय एवं २१ दिवसीय दो राष्ट्रीय कार्यशालायें आयोजित हुईं। इन कार्यशालाओं में प्रतिभागियों की संख्या, उनकी रुचि एवं उत्साह को देख कर इस प्राच्य भाषा के अध्येताओं की संख्या में विस्तार के प्रति हम आशान्वित हैं। इसके अतिरिक्त एक दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी पुस्तकालय पर आयोजित हुई। प्रो० जयेन्द्र सोनी (स्वीडेन) का 'द्रव्य, गुण एवं पर्याय' पर एक विशिष्ट व्याख्यान का आयोजन विद्यापीठ ने किया। साथ ही हर वर्ष की भांति इस वर्ष भी आई०एस०जे०एस० उपक्रम के अन्तर्गत जून-जुलाई में विदेशी छात्र-छात्राओं का विद्यापीठ में आगमन हुआ एवं उन्होंने जैन धर्म-दर्शन का अध्ययन किया।

नव-वर्ष की मंगल कामनाओं सहित

डॉ० अशोक कुमार सिंह



## तीर्थंकर शान्तिनाथ का जीवन चरित-साहित्य, कला एवं भारतीय परम्परा की पृष्ठभूमि में

शान्ति स्वरूप सिन्हा

वर्तमान चौबीसी के १६वें तथीङ्कर शान्तिनाथ का जीवन चरित अहिंसा और शान्ति की प्रभावना की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। सम्राट मेघरथ (शान्तिनाथ के दसवें पूर्वभव) के जीवन की 'कपोत कथा', महाभारत में शिवि कथा और बौद्ध शिवि जातक में भी किञ्चित् परिवर्तन के साथ इसी रूप में प्राप्त होती है।

इसी कथा के अनुरूप दृश्यांकन कुम्भारिया के महावीर मन्दिर में उत्कीर्ण है। प्रस्तुत लेख साहित्यिक एवं पुरातत्त्विक तथ्यों के आधार पर यह दिखाने का प्रयास है कि तीर्थङ्कर शान्तिनाथ के जीवन से सम्बन्धित यह प्रकरण राजधर्म, मानवधर्म, अहिंसा और शान्ति के व्यापक परिप्रेक्ष्य में भारतीय आदर्श मूल्यों की निरन्तरता और सर्वस्वीकृति का सूचक है।

— सम्पादक

भारतीय कला-इतिहास के अध्ययन में शास्त्र एवं पुरातत्त्व के संवाद की अहम भूमिका रही है। भारतीय इतिहास के अनेक अनुत्तरित प्रश्नों का समाधान और आगे के संशोधनों की सम्भावना की दृष्टि से शास्त्र और पुरातत्त्व का अन्तरावलम्बन और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। शास्त्रों के अवगाहन से जहाँ एक ओर नवीन विचारधाराओं का जन्म होता है, वहीं दूसरी ओर शास्त्रों में उल्लिखित सन्दर्भों की पुष्टि कई बार पुरातात्त्विक प्रमाणों द्वारा ही सम्भव हुई है।

प्रस्तुत शोध-पत्र में हमने निम्नलिखित तीन बिन्दुओं को आधार बनाया है-

१. कैसे पूर्व परम्परा का कोई कथानक किसी परवर्ती कथानक का मूलस्वर बन जाता है, जिसमें भारतीय संस्कृति की मूल आत्मा निहित है।

2: श्रमण, वर्ष ६४, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०१३

२. कला में उकेरी कथा किसी मान्यता अथवा अवधारणा को स्थापित करती है? क्या वह अवधारणा पूरे भारतीय सन्दर्भ को उद्घाटित करती है अथवा किसी धर्म विशेष या देव विशेष अथवा व्यक्ति विशेष का ही प्रतिनिधित्व करती है?

३. हम इस प्रश्न का भी सम्भावित उत्तर खोजने का प्रयास करेंगे कि कैसे कोई मान्यता सार्वभौमिक होकर अनिवार्य मानवीय मूल्य और सामाजिक आदर्श का रूप ग्रहण कर लेती है।

प्रस्तुत लेख में उपर्युक्त सन्दर्भों में ही “तीर्थकर शान्तिनाथ के जीवन-दृश्यों का साहित्यिक एवं कलात्मक विवेचन भारतीय परम्परा की पृष्ठभूमि में” प्रस्तुत हुआ है।

सोलहवें तीर्थकर शान्तिनाथ जैन परम्परा के २४ तीर्थकरों में एक है जो पांच प्रमुख तीर्थकरों (ऋषभनाथ, सुपार्श्वनाथ, शान्तिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर) में भी महत्त्वपूर्ण हैं। नाम और लांछन (मृग शान्ति का प्रतीक) के साथ ही शान्ति की प्रभावना की दृष्टि से भी शान्तिनाथ का विशिष्ट महत्त्व है। यही कारण है कि उत्तर-प्रदेश और मध्य-प्रदेश के दिगम्बर परम्परा के अनेक कला-केन्द्रों से हमें शान्तिनाथ की मूर्तियों एवं जिनालयों के बहुसंख्यक प्रमाण मिलते हैं। साथ ही इन क्षेत्रों के उकेरी महाप्रमाण मूर्तियाँ भी शान्तिनाथ की विशेष प्रतिष्ठा को ही प्रमाणित करती हैं।

शान्तिनाथ के जीवन-चरित्र से सम्बन्धित कथा का विस्तृत वर्णन मुख्यतः ११वीं शती ई० के बाद के श्वेताम्बर जैन ग्रन्थों यथा- **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित** (हेमचन्द्रसूरि कृत, १२वीं शती ई०) तथा **श्रीशान्तिनाथ चरित्र** (भावचन्द्र सूरि कृत, १४वीं शती ई०) में प्राप्त होता है। शान्तिनाथ के जीवन से सम्बन्धित कथा का उल्लेख लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृत विद्या मन्दिर, अहमदाबाद संरक्षित **श्री शान्तिनाथ चरित्र** शीर्षक पाण्डुलिपि में भी उपलब्ध है। यह पाण्डुलिपि आचार्य अजितप्रभ सूरि द्वारा १४वीं शती ई० के उत्तरार्ध (वि०स०



१४५३) में लिखी गयी है। संस्कृत भाषा में लिखित इस पाण्डुलिपि में गुजरात शैली के १० लघुचित्र भी हैं। इसमें शान्तिनाथ के जीवन की विविध घटनाओं के साथ ही शान्तिनाथ का पूर्वभव में महाराज मेघरथ के रूप में भी विस्तार से वर्णन मिलता है। वर्ष २०१३ में इस पाण्डुलिपि को युनेस्को ने वैश्विक सम्पत्ति भी घोषित किया है। उपर्युक्त ग्रन्थों में सामान्यतया शान्तिनाथ के पंचकल्याणकों (च्यवन, जन्म, दीक्षा, कैवल्य प्राप्ति एवं निर्वाण) का उल्लेख हुआ है। **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (त्रि०श०पु०च०)** (पंचम पर्व, पंचम सर्ग)<sup>१</sup> में शान्तिनाथ की माता द्वारा १४ शुभ स्वप्न देखने (श्लोक २५-४१), मृग लांछन युक्त शिशु शान्ति के जन्म और चातुर्दिक शान्ति की व्याप्ति (श्लोक ५०-५१), इन्द्र द्वारा शिशु के जन्म-अभिषेक (श्लोक ७२-८४) तथा शान्तिनाथ के विवाह एवं सिंहासनारूढ़ होने (श्लोक ११०-११३), युद्ध-विजय द्वारा चक्रवर्ती बनने (श्लोक १७३-२६६), तीर्थ स्थापना एवं समय पर राज्य छोड़कर प्रस्थान एवं दीक्षा ग्रहण करने (श्लोक २७२-२९०), कैवल्य-ज्ञान की प्राप्ति (श्लोक २९१-२९३) और उसके पश्चात् इन्द्र द्वारा प्रथम देशना के निमित्त शान्तिनाथ के समवसरण की रचना (श्लोक २९४-३०५) से सम्बन्धित कथा का विस्तृत उल्लेख है।

शान्तिनाथ के जीवन से सम्बन्धित दृश्यों का उत्कीर्णन हमें कुम्भारिया (शान्तिनाथ एवं महावीर मन्दिर) तथा माउण्ट आबू (विमल वसही) के जैन मन्दिरों पर प्राप्त होता है।<sup>२</sup> इन दृश्यों में कहीं भी मृगलांछन नहीं प्रदर्शित है। दृश्यों के पहचान की अनुपस्थिति में शान्तिनाथ के पूर्वभव से सम्बन्धित महाराज मेघरथ की कथा का विशेष महत्त्व है क्योंकि दो उदाहरणों (शान्तिनाथ एवं विमल वसही मन्दिर) में शान्तिनाथ के जीवन-दृश्यों की पहचान का मूल आधार यही कथा है।

महाराज मेघरथ की कथा का विशद् वर्णन **त्रि०श०पु०च०** (पंचम पर्व, चतुर्थ सर्ग, श्लोक २५३-३२२) में हुआ है। कथा के अनुसार दसवें पूर्व भव में शान्तिनाथ मेघरथ चक्रवर्ती सम्राट थे<sup>३</sup>, जो अहिंसा धर्म के परम अनुयायी थे। इस पर सुरूप नाम के देवता ने इसकी सत्यता

जानने के लिए मेघरथ की परीक्षा लेने का निश्चय किया। पृथ्वी पर आते समय सुरूप ने एक बाज और कपोत को लड़ते देखा। परीक्षा लेने का निश्चय किया। परीक्षा लेने के उद्देश्य से सुरूप देव कपोत के शरीर में प्रविष्ट हो गये। कपोत प्राणरक्षा के लिए आर्तनाद करता हुआ सभा में बैठे महाराज मेघरथ की गोद में आ गिरा, जो उस समय जिन प्ररूपित धर्म की व्याख्या कर रहे थे। मेघरथ ने कपोत की प्राणरक्षा का वचन दे दिया। कुछ देर बाद बाज भी वहाँ पहुँचा और उसने मेघरथ से कहा कि वह भूख से व्याकुल है, इसलिए उसके आहार (कपोत) को वे लौटा दें। इस पर मेघरथ ने कहा “आश्रित का परित्याग करना क्षत्रिय धर्म (राज धर्म) नहीं है”, इसके बाद मेघरथ ने बाज से कपोत के स्थान पर दूध या कुछ और ग्रहण करने को कहा। साथ ही यह भी कहा “जीव-हत्या से विरत होकर अहिंसा नीति का पालन करो, जिससे जन्म-जन्मान्तरों का सुख प्राप्त हो सकें”<sup>४</sup> (यह कथन जैन परम्परा की मूल अवधारणा अहिंसा की प्रभावना को व्यक्त करता है।) इस पर बाज ने कहा “मैं जीवों का ही माँस खाने का अभ्यस्त हूँ।”<sup>५</sup> तब मेघरथ ने कहा “इस कपोत के मांस के बराबर अपने शरीर का मांस तुझे दूँगा, जिसे खाकर तुम्हारी क्षुधा-शान्त हो सकें।”<sup>६</sup> मेघरथ ने तत्क्षण एक तुला मंगवाया और वे अपने शरीर से माँस काट-काट कर तुला के एक पलड़े पर रखने लगे (दूसरे पलड़े पर कपोत), परन्तु कपोत के भीतर स्थित देवता ने धीरे-धीरे अपना भार बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। अन्त में मेघरथ स्वयं तुला पर बैठ गये। इस प्रकार मेघरथ को किसी भी प्रकार धर्म से च्युत होते न देखकर सुरूप देव ने अन्ततोगत्वा अपने को प्रकट किया और कहा “जिस प्रकार ग्रह स्वस्थान से च्युत नहीं होता, उसी प्रकार आप ‘मानवता’ से च्युत नहीं हो सकते।”<sup>७</sup> जीवन के अन्त समय में एक दिन उपरोक्त घटना का स्मरण हो आने पर मेघरथ ने महाशान्ति के बीज रूप संसार-विरक्ति को प्राप्त किया।<sup>८</sup>

इस प्रकार की कथा हमें भारतीय परम्परा के अन्य धर्मों यथा-वैदिक-पौराणिक एवं बौद्ध धर्म में भी प्राप्त होती है। वैदिक-पौराणिक

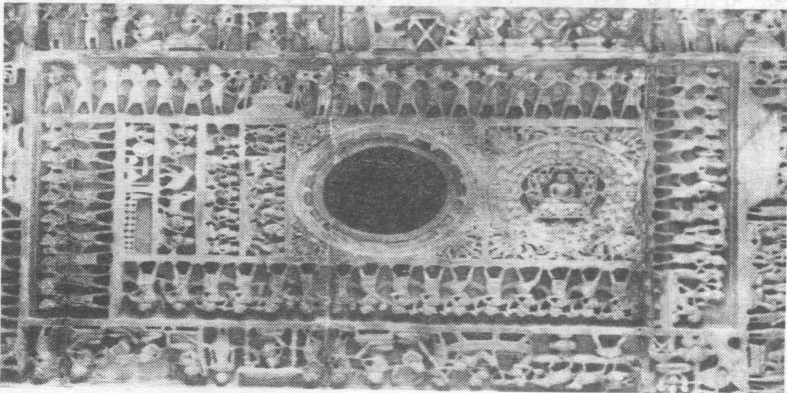
परम्परा में ऐसी ही कथा रामायण एवं महाभारत तथा बौद्ध परम्परा में शिवि जातक<sup>९</sup> में कुछ अन्तर-भेद के साथ वर्णित है। यहाँ हम तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से केवल महाभारत की कथा का ही उल्लेख कर रहे हैं।

महाभारत की कथा<sup>१०</sup> (वन पर्व, तीर्थयात्रा पर्व, अध्याय १३१, श्लोक १-३१) के अनुसार चन्द्रवंशीय चक्रवर्ती सम्राट महाराज शिवि के धर्माचरण की परीक्षा लेने हेतु इन्द्र बाज और अग्नि कपोत के रूप में प्रकट हुए। बाज से अपनी प्राणरक्षा की याचना करता हुआ कपोत महाराज शिवि की गोद में जा छिपा। त्रि०श०पु०च० वर्णित मेघरथ की कथा में भी कपोत के राजा की गोद में शरण लेने का उल्लेख हुआ है। बाज ने कपोत पर अपना अधिकार मानते हुए राजा से कपोत को छोड़ने का आग्रह किया, परन्तु शिवि ने कपोत की प्राणरक्षा का वचन दिया था। इसलिए उन्होंने कहा “अभय चाहने वाले को आश्रय देना उनका परम धर्म है”<sup>११</sup> साथ ही शरणागत की रक्षा का महत्त्व बताते हुए यह भी कहा कि “शरणागत हुए को त्यागना ब्राह्मण और गौ हत्या के समान है”<sup>१२</sup> महत्त्वपूर्ण है। जैन कथा से अन्तरभेद की दृष्टि से यहाँ बाज की क्षुधापूर्ति हेतु राजा द्वारा शूकर, मृग अथवा भैसे के मांस देने का प्रस्ताव भी ध्यातव्य है।<sup>१३</sup> अन्त में बाज द्वारा कपोत के बदले अन्य कुछ भी न स्वीकार किया जाना और उसके स्थान पर राजा शिवि के स्वयं के मांस का कपोत के वजन के बराबर तुला द्वारा अर्पण करना<sup>१४</sup>, जैन कथा से साम्य रखता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत कथा में बाज स्वयं ही महाराज शिवि का मांस मांगता है<sup>१५</sup> जबकि जैन कथा में मेघरथ स्वयं ही अपने मांस के अर्पण का प्रस्ताव करते हैं।<sup>१६</sup> महाभारत की इस कथा में शिवि द्वारा यह कहा जाना कि तुम मेरा मांस मांग रहे हो, इसे मैं अपने ऊपर तुम्हारी कृपा मानता हूँ<sup>१७</sup>, कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। शेष कथा कमोबेश यथावत है। अन्त में इन्द्र और अग्नि देव अपने वास्तविक रूप को प्रकट कर शिवि के कीर्ति एवं यश का आशीर्वाद प्रदान करते हैं।”

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि महाभारत की महाराज शिवि की कथा, जैन ग्रन्थों (हेमचन्द्र कृत त्रि०श०पु०च०, भावचन्द्र कृत श्री शान्तिनाथ चरित्र एवं अजितप्रभ कृत श्री शान्तिनाथ चरित) में वर्णित शान्तिनाथ के पूर्वभव से सम्बन्धित मेघरथ की कथा से पूर्ववर्ती है। वस्तुतः इस प्रकरण की कथा राज धर्म, मानव धर्म और अहिंसा के व्यापक परिप्रेक्ष्य में भारतीय आदर्श मूल्यों की निरन्तरता और सर्व-स्वीकृति की सूचक है।

शान्तिनाथ के जीवन-दृश्यों के शिल्पांकन का विस्तृत उल्लेख मुनि जयन्त विजय एवं गुरुवर प्रो० मारुति नन्दन तिवारी ने पुस्तकों में किया है।<sup>१८</sup> मैंने इस सामग्री का कुछ विशिष्ट दृश्यांकनों एवं तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से ही उपयोग किया है। शान्तिनाथ के जीवन-दृश्यों का अंकन मुख्यतया कुम्भारिया स्थित शान्तिनाथ एवं महावीर मन्दिरों तथा दिलवाड़ा स्थित विमल वसही के जैन मन्दिर के भ्रमिका वितानों पर हुआ है। तीनों ही उदाहरण श्वेताम्बर परम्परा से सम्बन्धित हैं और उनका अंकन श्वेताम्बर ग्रन्थ त्रि०श०पु०च० में वर्णित कथा के अनुरूप हुआ है। उल्लेखनीय है कि शान्तिनाथ के जीवन से सम्बन्धित मेघरथ के कथानक और कथात्मक अंकन न तो दिगम्बर कला-केन्द्रों और न ही दिगम्बर परम्परा के शास्त्रों में प्राप्त होते हैं।

कुम्भारिया (बनासकाठा, गुजरात) के शान्तिनाथ मन्दिर (११वीं शती ई०) के शान्तिनाथ से सम्बन्धित जीवन-दृश्यों के सम्पूर्ण



कथांकन को तीन आयतों में विभक्त किया गया है। प्रथम आयत में एक ऊँचे आसन पर विराजमान महाराज मेघरथ को सैनिकों एवं संगीतज्ञों से आवृत्त दिखाया गया है। सम्मुख ही एक तुला का अंकन है, जिसके एक पलड़े पर कपोत और दूसरे पलड़े पर स्वयं मेघरथ की आकृति है। पूर्व की ओर मेघरथ की कायोत्सर्ग में तपस्यारत आकृति आमूर्तित है, जो उनके कपोत एवं बाज की कथा का स्मरण होने के पश्चात् संसार से विरक्त हो तपस्या में उन्मुख होने के सन्दर्भ का पुरातात्विक प्रमाण है। आगे शान्तिनाथ के माता-पिता की वार्तालाप में संलग्न आकृतियां उकेरी हैं, जिनके समीप ही माता की शयन आकृति है जिसकी सम्मुख त्रि०श०पु० च० में वर्णित १४ शुभ स्वप्नों का अंकन हुआ है, जो तीर्थकर के गर्भ में आने का सूचक है।<sup>१९</sup> दूसरे आयत में माता के साथ शिशु (शान्तिनाथ) का अंकन और इसी के दक्षिण की ओर इन्द्र की गोद में शिशु का अंकन वस्तुतः जन्म-अभिषेक का दृश्यांकन है। तीसरे आयत में चक्रवर्ती पद के चिह्न यथा-नवनिधि (नवघट के माध्यम से), खड्ग, चक्र, छत्र इत्यादि अंकित है, जिसके समीप चक्रवर्ती रूप में शान्तिनाथ ऊँचे आसन पर विराजमान हैं। दाहिनी ओर शान्तिनाथ का समवसरण और उसके ऊपर शान्तिनाथ की बैठी आकृति का अंकन है, जिसके माध्यम से कैवल्य-प्राप्ति के बाद प्रथमोपदेश का दृश्यांकन हुआ है।

इसी प्रकार का दृश्यांकन कुम्भारिया के ही महावीर मन्दिर (११वीं शती ई०) की पश्चिमी भ्रमिका के पांचवें वितान पर उत्कीर्ण है। यहाँ





पर भी सम्पूर्ण दृश्यावली तीन आयतों में विभक्त है। शान्तिनाथ मन्दिर के उदाहरण से अलग यहाँ कथांकन का प्रारम्भ शान्ति के माता-पिता की वार्तालाप करती आकृतियों से हुआ है, अर्थात् इस उदाहरण में मेघरथ की कथा का अंकन नहीं हुआ है। शेष कथांकन उपरोक्त उदाहरण की भांति चक्रवर्ती शान्तिनाथ तक यथावत है।<sup>२०</sup> परन्तु महावीर मन्दिर के इस दृश्यांकन में सभी आकृतियों के नीचे उनकी पहचान से सम्बन्धित अभिलेख उत्कीर्ण है। यहाँ चक्रवर्ती पद प्राप्त करने से पूर्व विभिन्न युद्धों के लिए शान्ति के प्रस्थान और दीक्षा के पश्चात् केश-लुंचन का शिल्पांकन हुआ है जबकि शान्तिनाथ मन्दिर में ऐसे दृश्य नहीं दिखाये गये हैं। इसी प्रकार आगे शान्तिनाथ की कायोत्सर्ग और ध्यान-मुद्रा में उत्कीर्ण आकृतियां उनकी तपस्या और कैवल्य-प्राप्ति का समवेत निरूपण करती हैं। यह भी शान्तिनाथ मन्दिर के उदाहरण से अलग है। आगे पूर्व में वर्णित उदाहरण की भांति समवसरण का दृश्य और उसके ऊपर शान्तिनाथ की ध्यानस्थ आकृति उत्कीर्ण है।

विमल-वसही (माउण्ट आबू, दिलवाड़ा, राजस्थान, १२वीं शती ई०) की देवकुलिका संख्या १२ कि वितान पर शान्तिनाथ के पंचकल्याणकों का शिल्पांकन कुम्भारिया के शान्तिनाथ मन्दिर के समान ही है।<sup>२१</sup> यहाँ भी कथा का प्रारम्भ मेघरथ के स्वयं के शरीर के मांस के दान से होता है, जिसमें तुला पर एक ओर छद्म रूप में



Abu : Vimalavasahy, devakulikā 12, samatala ceiling (A) showing life scenes of Śāntinātha

कपोत रूपी सुरूप देव और दूसरी ओर शरीर के मांस के टुकड़ों से भार पूरा न होने पर मेघरथ को ही शरीर दिखाया गया है। आगे दीक्षा कल्याणक दृश्य में त्रि०श०पु०च० के वर्णन के अनुरूप शान्तिनाथ को सहस्राप्रवन की ओर शिविका (पालकी) में बैठकर प्रस्थान करते दिखाया गया है।<sup>२२</sup> इसी क्रम में आगे केश-लुंचन के दृश्य में इन्द्र के द्वारा केशों को संचित करने का दृश्यांकन उल्लेखनीय है। साथ ही शान्तिनाथ की दो कायोत्सर्ग मूर्तियों के मध्य समवसरण का अंकन हुआ है<sup>२३</sup> जो एक साथ शान्तिनाथ की तपस्या, कैवल्य-प्राप्ति और प्रथम देशना का संयुक्त शिल्पांकन है।

इस प्रकार तीनों ही धर्मों (वैदिक-पौराणिक, बौद्ध एवं जैन) में वर्णितकथा के अध्ययन से ज्ञात होता है कि धर्म का मूल भाव 'शरणगत की रक्षा', 'करुणा' एवं 'अहिंसा' जैन परम्परा के विशेष संदर्भ में है। साथ ही राजा या शासक के लिए धर्म का पालन अनिवार्य बतलाया गया है। तीनों ही परम्पराओं में ऐसे कार्य के पश्चात् ही देवस्थान पाने का अधिकारी माना गया है। जैन परम्परा में शान्तिनाथ के जीवनवृत्त का कथात्मक साहित्यिक उल्लेख और उनके शिल्पांकन के अध्ययन से स्पष्ट है कि पूर्वभव में चक्रवर्ती होते हुए भी शरणगत की रक्षा, अहिंसा और त्याग के मार्ग पर चलते हुए सभी जीवों के साथ मैत्री-भाव और संयम के कारण ही उन्हें अगले भव में तीर्थकर (शान्तिनाथ) पद प्राप्त हुआ। तीर्थकर पद प्राप्त करने के पश्चात् भी शान्तिनाथ ने समवसरण में अपनी प्रथम देशना में जगत् के कल्याण के निमित्त अहिंसा, अपरिग्रह और इन्द्रिय-निग्रह के सिद्धान्त पर ही बल दिया।<sup>२४</sup> समवसरण में परस्पर वैर-भाव वाले पशु-पक्षियों का साथ-साथ उपस्थित होना भी तीर्थकर के उपदेशों-अहिंसा भाव की ही फलश्रुति है।

शास्त्रों एवं दृश्यांकनों के अवगाहन के पश्चात् हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं-

मेघरथ की कथा जहाँ एक ओर अनिवार्य धर्माचरण का प्रतीक है तो वहीं दूसरी ओर शान्तिनाथ की जीवन-दृश्यों के पहचान में सहायक भी

10 : श्रमण, वर्ष ६४, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०१३

है (कुम्भारिया के शान्तिनाथ और माउण्ट आबू के विमल वसही मन्दिरों के दृश्यों में)।

इस अध्ययन से यह भी सिद्ध हो जाता है कि मूलतः मेघरथ राजा शिवि अथवा शिवि जातक में उल्लिखित कथा का अभिप्रेत स्वर एक ही और वह है शरणागत की रक्षा एवं करुणा-भाव। इसके लिए सर्वस्व समर्पण, यहाँ तक कि स्वयं के शरीर का समर्पण भी अभीष्ट है। वस्तुतः इस कथा को किसी धर्म, देवता या व्यक्ति-विशेष से अलग श्रेष्ठ मानव धर्म का प्रतीक मानना चाहिए। इसीलिए यह कथा समान रूप से सभी परम्पराओं में स्वीकृत हुई।

भगवतगीता में भी कहा गया है, “महापुरुष जो आचरण करते हैं, साधारण मनुष्य उसी का अनुसरण करते हैं। वह पुरुष अपने विलक्षण कार्यों से जो आदर्श स्थापित करता है, सम्पूर्ण विश्व उसका अनुसरण करता है।”<sup>२५</sup>

जैन प्रसंग की कथा भी भारतीय संस्कृति के मूलस्वर को ही व्यक्त करती है-

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥

कुषाणकालीन जैन आयागपटों पर भी “सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय”<sup>२६</sup> का उल्लेख यही भाव प्रकट करता है।

### सन्दर्भ सूची :

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (त्रि०श०पु०च), हेमचन्द्रसूरि, अनु० गणेश ललवानी, भाग ४, जयपुर १९९२, पृ० ९२-१२५
२. एम० एन० पी० तिवारी, जैन प्रतिमा विज्ञान, वाराणसी, १९८१, पृ० १११
३. वही
४. त्रि०श०पु०च०, पू० नि०, श्लोक २५३-२६७
५. वही, श्लोक २७३
६. वही, श्लोक २७४

७. त्रि०श०पु०च०, श्लोक २८२-८३
७. वही, श्लोक ३१४-१५
९. कोवेल, जातक स्टोरी, खण्ड-चार, पृ० २५०-५६, स० २४९
१०. महाभारत (द्वितीय खण्ड), (अनु०) रामनारायण दत्त शास्त्री, गोरखपुर, सम्बत् २०५१, पृ० १३११ से १३१३
११. एवमभ्यागतस्येह कपोतस्याभ्यार्थिनः।  
अप्रदाने परं धर्म कथं श्येन न पश्यसि॥ वही, श्लोक ४
१२. शरणागतं च त्यजते तुल्यं तेषां हि पातकम् ॥ वही, श्लोक ६
१३. वही, श्लोक १७
१४. वही, श्लोक २४ से २८
१५. यदा समं कपोतेन तव मांसं नृपोत्तम।  
तदा देयं तु तन्मध्यां सा मे तुष्टिर्भविष्यति॥ वही, श्लोक २४
१६. त्रि०श०पु०च०, पू० नि०, श्लोक २७४
१७. अनुग्रहमिमं मन्ये श्येन यन्माभियाचसे  
तस्मात् तेऽद्य प्रदास्यामि स्वमांसं तुलया घृतम् ॥  
महाभारत, पू० नि०, श्लोक २५
१८. मुनि जयन्तविजय - होली आबू, अनु० यू० पी० शाह, भावनगर, १९५४,  
पृ० ७०-७१, एम० एन० पी० तिवारी, पू० नि०
१९. त्रि०श०पु०च०, पू० नि०, पंचम सर्ग, श्लोक २५ से ४१
२०. एम० एन० पी० तिवारी०, पू० नि०, पृ० १११-११२
२१. वही, पृ० ११२
२२. त्रि०श०पु०च०, पू०नि०, पंचम सर्ग, श्लोक- २७८-२७९
२३. मुनि जयन्तविजय, पू० नि०, हरिहर सिंह, जैन टेम्पल्स इन वेस्टर्न इण्डिया,  
वाराणसी, १९८२ पृ० ६४ यू० पी० शाह- जैन रूप मण्डन, नई दिल्ली,  
१९८७, पृ० १५६, एम० एन०पी० तिवारी एवं एस० एस० सिन्हा- जैन  
आर्ट ऐण्ड ऐस्थेटिक्स, दिल्ली, २०११, पृ० ६९-७०
२४. त्रि० श० पु० च०, पू० नि०, पंचम सर्ग, श्लोक ३२०-३३०
२५. यद्यदाचरित श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।  
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ भगवतगीता, ३.२१
२६. एम०एन०पी० तिवारी एवं एस० एस० सिन्हा -जैन आर्ट ऐल  
पोटेन्ट सोश्र ऑफ इण्डियन हिस्ट्री कल्चर ऐण्ड आर्ट (विथ स्पेशल  
रिफरेन्स टू दि कुषाण इमैजेज फ्रॉम मथुरा), स्वस्ति (प्रो० हम्पा नागरजैय्या  
अभिनन्दन ग्रन्थ), (सम्पा०) नलिनी बलबीर, बंगलोर, २०१०, पृ० ४३

## भाषा-चिन्तन की परम्परा में जैन दर्शन की भूमिका

अर्चना रानी दूबे

जैन परम्परा में भाषा-दर्शन विषयक सिद्धान्तों के बीज भगवतीसूत्र और प्रज्ञापनासूत्र जैसे प्राचीन आगम ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। महावीर के काल में महावीर और जामालि के मध्य मतभेद भाषा-विश्लेषण को ही लेकर था। इस लेख में जैन दर्शन के विकास के चरणों के अनुसार कृतियों और दार्शनिकों का वर्गीकरण उनमें निहित भाषा-दर्शन सम्बन्धी तथ्यों का ऐतिहासिक क्रम में विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

### - सम्पादक

भाषा तत्त्व तथा भाषा-दर्शन की परम्परा भारतीय चिन्तन में प्राचीन काल से ही चली आ रही है। 'देवीं वाचमजनयन्देवा तुरीयां वाचं मनुष्या वदन्ति' आदि श्रुति वाक्यों से स्पष्ट है कि भाषा विषयक मनन एवं चिन्तन आदिकाल से ही प्रारम्भ हो रहा था। भाषा तथा उसके अर्थ-विश्लेषण का आरम्भ वैदिक मंत्रों एवं श्रुतियों के रक्षार्थ ब्राह्मण ग्रन्थों में हमें दृष्टिगत होता है। यही परम्परा उत्तरोत्तर उन्नति करती हुई पाणिनि, पतंजलि के ग्रन्थों में विकसित हुई। भर्तृहरि का 'वाक्यपदीय' इसी परम्परा का अधिकारी ग्रन्थ है। भारतीय दर्शन का मीमांसा सम्प्रदाय भी प्राचीन काल से ही भाषा और शब्द सम्बन्धी विभिन्न प्रश्नों के समाधान हेतु प्रत्यनशील था। न केवल मीमांसकों और वैयाकरणों ने भाषा-सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं पर प्रौढ़ ग्रन्थ की रचना की अपितु जैन एवं बौद्ध विचारक भी भाषा-दर्शन सम्बन्धी अनेक समस्याओं को अपनी परम्परा के परिप्रेक्ष्य में सुलझाने में लगे थे। बौद्धों का 'अपोहवाद' का सिद्धान्त इस दिशा में गम्भीर प्रयत्न माना जाता है।

भाषा-दर्शन सम्बन्धी चिन्तन की परम्परा जैन-दर्शन में प्राचीन काल से ही चली आ रही है। प्राचीन जैनागम 'प्रज्ञापनासूत्र' में भाषा की उत्पत्ति



कैसे होती है? उसकी व्यापकता क्या है? भाषायी कथनों का सत्यता से क्या सम्बन्ध है? इसकी विस्तार से चर्चा दार्शनिकों ने शब्द के स्वरूप, शब्द की नित्यता का प्रश्न, शब्दार्थ-सम्बन्ध, शब्द की वाच्यता का प्रश्न, अपोहवाद, स्फोटवाद, अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद आदि भाषा-दर्शन सम्बन्धी विषयों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है।

भाषा-दर्शन के क्षेत्र में जैन दार्शनिकों की भूमिका को समझने के लिए जैन दर्शन की विकास-यात्रा के परिप्रेक्ष्य में ही उसे समझना अधिक उचित होगा। आज तक उपलब्ध समस्त जैन दार्शनिक साहित्य को दृष्टि में रखते हुए पद्मभूषण पं० दलसुख मालवणिया ने जैन दर्शन शास्त्र के विकास क्रम को चार युगों में विभाजित किया है<sup>१</sup>—

१. आगम युग – भगवान महावीर के निर्वाण से लेकर लगभग एक हजार वर्ष का अर्थात् विक्रम की पाँचवीं शताब्दी तक
२. अनेकान्त स्थापना युग –(विक्रम की पाँचवीं से आठवीं शताब्दी तक)
३. प्रमाणशास्त्र व्यवस्था युग –(विक्रम की आठवीं से सत्रहवीं तक)
४. नव्य-न्याय युग –(विक्रम सत्रहवीं से आधुनिक समय-पर्यन्त)

ध्यातव्य है कि युगों का कुछ इसी प्रकार का विभाजन पं० सुखलाल जी ने किया है एवं पं० महेन्द्र कुमार जैन ने भी उसी को स्वीकार किया है।<sup>२</sup>

**आगम युग :** भगवान महावीर ने जो व्याख्यात्मक उपदेश दिए थे, उन्हीं उपदेशों को उनके प्रधान शिष्यों ने संग्रहीत किया, वे ही आगम कहलाए। वर्तमान आगमों को महावीर प्रणीत कहने का तात्पर्य यही है कि इनका प्ररूपण भगवान महावीर ने किया तथा ग्रन्थ रूप में निबन्धन उनके प्रधान शिष्यों अर्थात् गणधरो ने किया।

आगम युग के दार्शनिक साहित्य के सम्बन्ध में पं० दलसुख मालवणिया जी ने अपनी पुस्तक 'आगम युग का जैनदर्शन' में विस्तृत रूप से चर्चा की है। इसके अतिरिक्त पं० महेन्द्र कुमार जैन द्वारा लिखित 'जैन-दर्शन' तथा डॉ० मोहन लाल मेहता द्वारा लिखित 'जैन धर्म-दर्शन' में भी इस युग के दार्शनिक साहित्य का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। अतः उसकी पुनरावृत्ति यहाँ अपेक्षित नहीं है। हमारा उद्देश्य जैन दार्शनिक साहित्य में भाषा-दर्शन सम्बन्धी सामग्री को अंकित करना है। आगम युग के दार्शनिक साहित्य में मुख्य रूप से तत्त्वमीमांसा व आचार मीमांसा की ही चर्चा है। जहाँ तक भाषा-दर्शन विषयक सामग्री का प्रश्न है तो भाषा-दर्शन विषयक सिद्धान्तों के बीज हमें आगम ग्रन्थों से ही दिखने लगते हैं जो कि क्रमशः आगे के युगों में विकसित होते हैं।

प्राचीन जैनागम 'भगवती सूत्र' के प्रथम शतक के प्रथम उद्देशक में भाषा-विश्लेषण सम्बन्धी विवरण एवं सन्दर्भ प्राप्त होता है।<sup>३</sup> महावीर के काल में ही प्रथम संघभेद भाषा-विश्लेषण को लेकर ही हुआ था। भगवान महावीर और उनके भागिनेय जमाली के मध्य जो विवाद चला उसका आधार भाषा-विश्लेषण ही था।

'आचारांग सूत्र'<sup>४</sup> के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के चतुर्थ अध्यायन 'भाषा-विवेक' में साधु-वर्ग को वचन-शुद्धि के उपाय बताए गए हैं। इस प्रकार भाषा के नैतिक दर्शन की चर्चा यहाँ उपलब्ध होती है।

'स्थानांग सूत्र'<sup>५</sup> तथा 'समवायांग सूत्र' में ज्ञान, प्रमाण, नय, निक्षेप जैसे विषयों के बीज दिखलाई पड़ते हैं, जिसका परिवर्द्धन आगे के अनेकान्त स्थापन व प्रमाण व्यवस्था युग में होता है।

'अनुयोगद्वार सूत्र'<sup>६</sup> में शाब्द-बोध प्रक्रिया के अन्तर्गत निक्षेप और नय का निरूपण प्राप्त होता है।

'नन्दीसूत्र'<sup>७</sup> जैन दृष्टि से ज्ञान चर्चा करने वाली उत्तम कृति है।

'प्रज्ञापनासूत्र'<sup>८</sup> के एकादश 'भाषा पदम्' में भाषा की उत्पत्ति उसकी 'व्यापकता', भाषायी कथनों की सत्यता-असत्यता के प्रश्न पर विस्तार से चर्चा उपलब्ध होती है।

‘दशवैकालिक सूत्र’<sup>९</sup> के सप्तम अध्ययन ‘वाक्यशुद्धि’ में भाषा के नैतिक दर्शन पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

दिगम्बर आगम ग्रन्थों में षट्खंडागम, महाबन्ध, कषायप्राभृत और कुन्दकुन्दाचार्य के ‘पंचास्तिकाय’, ‘प्रवचनसार’, ‘समयसार’ आदि प्रमुख हैं। षट्खंडागम में छः खण्ड हैं तथा आगमिक एवं सैद्धान्तिक ग्रन्थ होने के कारण इसे आगम सिद्धान्त, खण्डसिद्धान्त आदि नाम दिए जाते हैं।

कुन्दकुन्द के ‘पंचास्तिकाय’<sup>१०</sup> में सप्तभंगी, नय, पदार्थ, आदि विषयों पर सफल लेखनी चली है। कुन्दकुन्द का समय विक्रम की प्रथम शताब्दी अनुमानित किया जाता है।

आगमान्तर्गत विभिन्न विषयों को सार रूप में प्रस्तुत करने वाला सूत्रात्मक शैली का ग्रन्थ ‘तत्त्वार्थसूत्र’ भी इसी युग का है। आचार्य उमास्वाति इसके रचयिता हैं। ‘तत्त्वार्थसूत्र’ में जैन तत्त्व-ज्ञान, आचार, भूगोल, खगोल आदि समस्त महत्त्वपूर्ण विषयों का प्रतिपादन है।<sup>११</sup> इस ग्रन्थ की भाषा संस्कृत है। श्वेताम्बर विद्वान् ऐसा मानते हैं कि वाचक उमास्वाति ने स्वयं इस पर भाष्य भी लिखा। ‘तत्त्वार्थसूत्र’ का रचना काल विक्रम की चौथी-पांचवीं शताब्दी माना जाता है। आचार्य पूज्यपाद ने छठीं शताब्दी में ‘तत्त्वार्थसूत्र’ पर ‘सर्वार्थसिद्धि’<sup>१२</sup> नामक एक स्वतन्त्र टीका लिखी।

इस प्रकार ‘आगम युग’ के दार्शनिक साहित्य के परिशीलन से स्पष्ट होता है कि इस युग के साहित्य में मुख्यतः तत्त्व मीमांसा या आचार मीमांसा को ही महत्त्व दिया गया। आगमयुग के ग्रन्थों में यद्यपि अनेकान्त, नय, प्रमाण आदि ज्ञानमीमांसा के तत्त्वों के बीज यत्र-तत्र बिखरे हैं परन्तु उसका भली-भाँति पल्लवन अनेकान्त स्थापना युग से ही प्रारम्भ होता है। जहाँ तक भाषा-दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रश्न है, भाषा-दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तों का भी संकेत आगम युग के दार्शनिक साहित्य से ही मिलना प्रारम्भ हो जाता है तथा उसका उत्तरोत्तर विकास आगे के युगों में देखा जा सकता है।

### अनेकान्त-स्थापन युग :

विक्रम की पांचवीं-छठीं शताब्दी में नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग आदि बौद्ध आचार्यों ने दार्शनिक वाद-विवादों के माध्यम से दार्शनिकों के बीच एक तर्क संघर्ष को जन्म दिया। बौद्ध विद्वानों ने युक्तिपूर्वक बौद्ध सिद्धान्त क्षणिकतावाद की स्थापना की।

इसी काल में जैन विद्वान् सिद्धसेन और समन्तभद्र का उदय हुआ। आचार्य सिद्धसेन ने 'सन्मतितर्क' तथा समन्तभद्र ने 'आप्तमीमांसा' की रचना कर 'अनेकान्तवाद' की स्थापना की।<sup>१३</sup> अनेकान्त स्थापना में 'मल्लवादि' के 'द्वादशारनयचक्र' की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। आज तक के दार्शनिक ग्रन्थों में यह अद्भुत ग्रन्थ है। इसमें अनेक दार्शनिक मतवादों की समीक्षा कर अनेकान्त की स्थापना की गई है।<sup>१४</sup>

अनेकान्त स्थापन युग की विशेषता यह रही है कि इस युग में दार्शनिक मतवादों की समीक्षा में 'अनेकान्त' को ही माध्यम बनाया गया। इस युग के सभी दर्शनाचार्यों ने अनेकान्त की अवधारणा के स्थिरीकरण के भरसक प्रयास किए। इस युग के अन्तिम दार्शनिक आचार्य 'हरिभद्र' माने जा सकते हैं। उन्होंने 'अनेकान्तजयपताका', 'अनेकान्तवादप्रवेश' जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना अनेकान्त स्थापन हेतु की।

भाषा-दर्शन की दृष्टि से इस युग की ज्ञानमीमांसीय अवधारणा के अन्तर्गत 'नय' की अवधारणा को लिया जा सकता है। जैन अभिमत 'नय' विचार भाषायी अभिव्यक्ति का विशेष प्रारूप है। वाच्यार्थ निर्धारण हेतु 'नय' का सिद्धान्त जैन दर्शन की अपनी विशेषता है।

### प्रमाण व्यवस्था युग

जैसा कि नाम से स्पष्ट है जैन दर्शन की विकास यात्रा के इस युग में प्रमाणशास्त्र की स्थापना हुई। इस युग में बौद्ध दार्शनिकों ने न्याय, मीमांसा आदि दार्शनिक सम्प्रदायों की प्रमाण सम्बन्धी मान्यता का खण्डन करके स्वतन्त्र बौद्ध प्रमाण शास्त्र की व्यवस्था की। पुनः

मीमांसाक 'कुमारिलभट्ट' तथा नैयायिक 'उद्योतकर' ने भी बौद्ध दर्शन के खण्डन में अपने ग्रन्थों की रचना की। इस युग की मुख्य विशेषता थी, स्वपक्ष का मण्डन तथा परपक्ष का खण्डन। जैन दार्शनिक भी इस खण्डन-मण्डन के परिवेश से अछूते न रह सके तथा 'भट्ट अकलंक देव' ने जैनन्याय के विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों के द्वारा जैन प्रमाणशास्त्र की प्रतिष्ठा की। यह युग आठवीं शताब्दी से लेकर लगभग १५वीं शताब्दी तक का है। 'हरिभद्रसूरि' ने इसी युग में जैन दर्शन के पक्ष को सबल बनाने के लिए 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' तथा 'षड्दर्शनसमुच्चय' जैसे अप्रतिम ग्रन्थों का प्रणयन किया।<sup>१५</sup>

प्रमाणव्यवस्था युग में मुख्य रूप से प्रमाणों की सुव्यवस्थित व्यवस्था हुई। इसके पूर्व आगम युग व अनेकान्त स्थापन युग में पंच ज्ञानों की चर्चा आई थी तथा सिद्धसेन के 'न्यायावतार' में प्रमाणों की चर्चा का प्रारम्भिक स्तर ही दृष्टिगत होता है। जैन भाषा-दर्शन विषयक सामग्री की खोज करने पर इस युग में 'शब्दप्रमाण' की चर्चा में भाषादर्शन सम्बन्धी सामग्री प्रचुर रूप में उपलब्ध होती है। अतः भाषा-दर्शन की दृष्टि से भी प्रमाण व्यवस्था युग का दार्शनिक साहित्य विशेष उपयोगी सिद्ध होता है। जैन भाषा-दर्शन के सिद्धान्तों के आकलन के लिए इस युग के दार्शनिक साहित्य का परीक्षण आवश्यक हो जाता है। भाषादर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तों का विशेष ऊहापोह पूर्वक निष्पादन इस युग के साहित्य की उपलब्धि कही जा सकती है।

### नव्य-न्याय-युग

विक्रम की तेहरवीं शताब्दी में उदित 'गंगेश उपाध्याय' नव्यन्याय शैली के जन्मदाता कहे जाते हैं। इनकी शैली से प्रभावित होकर तत्कालीन दार्शनिकों ने अपने-अपने सम्प्रदाय का विकास इसी शैली में किया। यद्यपि अन्य सभी दार्शनिक सम्प्रदाय नव्य-न्याय की शैली को अपनाकर नवीन रूप में अपने दार्शनिक विचारों की स्थापना कर चुके थे। परन्तु जैन परम्परा में सत्रहवीं शताब्दी तक नव्यन्याय शैली में किसी ग्रन्थ की



रचना नहीं हुई। सत्रहवीं शताब्दी के अंत में 'उपाध्याय यशोविजय' जी ने इस नवीन शैली को अपनाकर जैन दर्शन के ग्रन्थों को नवीन रूप में प्रस्तुत किया। 'यशोविजय जी' से पूर्व किसी भी जैन दार्शनिक ने नव्य-न्याय शैली में किसी प्रकार के ग्रन्थ की रचना नहीं की है। 'यशोविजय' जी ने 'जैनतर्कभाषा' व 'ज्ञानबिन्दु' की रचना नवीन शैली में की है।

दिगम्बर परम्परा में विमलदास ने भी 'सप्तभंगीतरंगिणी' की रचना भी इसी शैली में की। जैन भाषा-दर्शन सम्बन्धी सामग्री के रूप में 'यशोविजय जी' द्वारा लिखित 'भाषारहस्य प्रकरण' इसी युग की कृति है।<sup>१६</sup>

इस प्रकार समस्त जैन दार्शनिक साहित्य का परिशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा-दर्शन के क्षेत्र में जैन चिन्तक आगम युग से ही प्रयत्नशील रहे हैं। आगम युग के साहित्य का प्रमुख विषय तत्त्वमीमांसा ही रहा है परन्तु तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों में भाषा-विश्लेषण जैसे विषयों का गम्भीर चिन्तन 'भगवती सूत्र' में ही प्राप्त हो जाता है। पुनः दार्शनिक विकास के साथ-साथ ईसा की प्रथम शताब्दी से ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत भाषा-दर्शन सम्बन्धी चिन्तन प्राप्त होता है। जहाँ तक जैन दार्शनिकों के भाषा चिन्तन का प्रश्न है उन्होंने शब्द की नित्यता एवं शब्दार्थ सम्बन्ध आदि विषयों पर भले ही मीमांसकों एवं वैयाकरणों के बाद प्रवेश किया हो, परन्तु सत्ता की वाच्यता तथा कथन की सत्यता आदि भाषा-दर्शन सम्बन्धी विषयों पर प्राचीन जैगागमों में प्रकाश डाला गया है।

शब्द की वाच्यता सामर्थ्य का प्रश्न आचारांग में उपलब्ध है। स्थानांग के १०वें स्थान में शब्द के प्रकार, सत्य भाषा, असत्य भाषा की चर्चा है। भगवतीसूत्र, प्रश्नव्याकरण सूत्र<sup>१७</sup>, प्रज्ञापनासूत्र का भाषा-पदम्, तथा 'मूलाचार'<sup>१८</sup> में भाषा विवेचनाएँ उपलब्ध हैं। इन सभी आगमों में उपलब्ध सामग्री को जैन दार्शनिकों के भाषा-दर्शन का प्रमुख आधार

माना जा सकता है। पुनः 'निक्षेप' की अवधारणाएँ भी जैन आगमों में उपलब्ध हैं। इन अवधारणाओं का उद्देश्य वक्ता के आशय को समझाना है। ये सभी विषय भाषा-दर्शन से सम्बन्धित हैं। इसी प्रकार पूज्यपाद, माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र आदि जैन दार्शनिकों ने क्रमशः 'सर्वार्थसिद्धि', 'परीक्षामुख', 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' तथा 'न्यायकुमुदचन्द्र' आदि ग्रन्थों में शब्द का स्वरूप, शब्दार्थ सम्बन्ध, शब्द के वाच्यत्व के प्रश्न आदि पर गम्भीरता से विचार किया गया है। जैन आगमों के सांकेतिक भाषा-दर्शन सम्बन्धी विषय जैन न्याय के ग्रन्थों में क्रमशः विकसित होते गए। इस प्रकार भाषा-दर्शन के क्षेत्र में जैन दार्शनिकों के अवदान को महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।

### सन्दर्भ सूची :

१. पं० दलसुख मालवणिया, आगम युग का जैन-दर्शन, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, पृ० २८१, १९९०
२. पं० महेन्द्र कुमार जैन, जैन दर्शन, श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, २००६, पृ० ११
३. डॉ० सागरमल जैन, जैन भाषा-दर्शन, भोगीलाल लेहरचन्द भारतीय संस्कृति संस्थान, दिल्ली, १९८६
४. 'आचारांगसूत्र', द्वितीय श्रुतस्कन्ध चतुर्थ, अध्ययन, सम्पा. मधुकर मुनि आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.), १९८५
५. ठाणं, १०वाँ स्थानक, वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, सम्पा. मुनि नथमल, जैन विश्वभारती लाडनूँ (राज.), १९७६
६. अणुओगदाराई, सम्पा. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूँ राज., १९९६
७. नन्दीसूत्र, प्रकरण ४ एवं ५, सम्पा. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूँ (राज.), १९९७
८. प्रज्ञापनासूत्र, एकादश 'भाषा पदम', सम्पा. मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.) १९८३
९. दसवेआलियं, सप्तम अध्ययन, सं. विवेचक- मुनि नथमल, जैन विश्वभारती लाडनूँ (राज.), १९७४
१०. पंचास्तिकाय सार, कुन्दकुन्द, व्याख्या- प्रो० ए० चक्रवर्ती नयनार, ए० एन० उपाध्ये, भारतीयज्ञानपीठ, नईदिल्ली, १९७५

20 : श्रमण, वर्ष ६४, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०१३

११. तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, तृतीय संस्करण, १९९३
१२. सर्वार्थसिद्धि, सम्पा. एवं अनु. पं० फूलचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सोलहवाँ संस्करण, २०१०
१३. आप्तमीमांसा, समन्तभद्र, सम्पा. प्रो० उदयचन्द्र जैन, श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, २०१२
१४. द्वादशारनयचक्रम्, सम्पा. मुनि जम्बूविजय, आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९६६
१५. षड्दर्शनसमुच्चय, हरिभद्रसूरि, सम्पा. डॉ० महेन्द्र कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, सातवाँ संस्करण, २००९
१६. भाषारहस्यप्रकरण यशोविजय, जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, राजनगर (अहमदाबाद), वि०सं० १९९७
१७. प्रश्नव्याकरणसूत्र, हिन्दी व्याख्या पं० हेमचन्द्र जी, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
१८. मूलाचार (हिन्दी, टीका आर्यिकारत्न ज्ञानमती जी), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, १९८४,

\*\*\*\*

## अनेकान्तवाद : उद्भव और विकास

योगेश कुमार जैन

जैन दर्शन के महत्वपूर्ण सिद्धान्त अनेकान्तवाद का बीज “विभज्यवाद” के रूप में सूत्रकृताङ्ग जैसे प्राचीन अङ्ग आगम में ही प्राप्त होता है। आधुनिक विद्वानों के अनुसार भगवान् महावीर के उपदेश को चित्र-विचित्र पुंस्कोकिल की पांख की संज्ञा देना उनके उपदेश को अनेकरंगी अनेकान्तवाद मानना है। प्रस्तुत लेख में अनेकान्त का अर्थ, आचार्य सिद्धसेन, आचार्य वीरसेन, आचार्य माणिक्यानन्दी, आचार्य अमृतचन्द्र, उपाध्याय यशोविजय, आचार्य तुलसी आदि द्वारा प्रदत्त अनेकान्तवाद के लक्षण, अनेकान्तवाद के भेद-प्रभेद का विवेचन किया गया है।

-सम्पादक

अनेकान्त जैन दर्शन का प्राण तत्त्व है। इस सिद्धान्त के उद्भव की ऐतिहासिकता का निश्चय करना संभव नहीं है। जिस प्रकार ऋग्वेद में विश्व की उत्पत्ति के संदर्भ में कहा गया है - “एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति”<sup>१</sup> सत् तो एक ही है किन्तु विद्वान् उसका वर्णन बहुत प्रकार से करते हैं अर्थात् एक ही तत्त्व के विषय में नाना प्रकार के वचन प्रयोग देखे जाते हैं, जिसे हम समन्वयशीलता कहते हैं। इसी समन्वयशीलता का शास्त्रीयरूप जैनदर्शन सम्मत स्याद्वाद या अनेकान्त है। विश्व-वैचित्र्य के कारण की जिज्ञासा से उत्पन्न अनेक मतवादों का निवेश उपनिषदों में है। इस प्रकार विभिन्न मतों का एक जाल सा बन गया। जिस प्रकार एक ही पहाड़ से अनेक नदियाँ बहती हैं उसी प्रकार एक ही प्रश्न के उत्तर में अनेक मतों की नदियाँ बहने लगीं और ज्यों-ज्यों वे नदियाँ आगे बढ़ीं उनका विस्तार भी हुआ और अंत में वे एक ही समुद्र में जाकर मिल गईं। उसी प्रकार सभी मतवादियों का समन्वय महासमुद्ररूप<sup>२</sup> स्याद्वाद या अनेकान्तवाद में हो गया। प्राचीन तत्त्व-व्यवस्था में भगवान् महावीर ने क्या नया अर्पण किया, इसे जानने के लिए आगमों से बढ़कर हमारे पास कोई साधन नहीं है। पं० सुखलाल संघवी ने सन्मति-

22 : श्रमण, वर्ष ६४, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०१३

तर्क की प्रस्तावना में अनेकान्त के ऐतिहासिक विकास के सम्बन्ध में लिखा है- भगवान् महावीर से पहले भारतीय वाङ्मय में अनेकान्तिक दृष्टि नहीं थी, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु प्राचीन जैन आगमों के पूर्ववर्ती और समसमयवर्ती दूसरे दार्शनिक साहित्य के साथ तुलना करने पर यह तो स्पष्ट है कि व्यवस्थित निरूपण भगवान् महावीर के उपदेश रूप माने जाने वाले जैन आगमों में ही है। उपलब्ध जैन अंग ग्रन्थों में अनेकान्त दृष्टि की तथा उससे फलित होने वाले दूसरे वादों की चर्चा तो है परन्तु वह बहुत संक्षिप्त है। आगम पर निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि जैसे साहित्य में यह चर्चा कुछ लम्बी तो अवश्य दिखाई पड़ती है, परन्तु उसमें तर्कशैली एवं दार्शनिक वाद-प्रतिवाद बहुत ही कम है। जैन वाङ्मय में संस्कृत भाषा का और उसके द्वारा तर्कशैली तथा दार्शनिक खण्डन-मण्डन का प्रवेश होते ही अनेकान्त की चर्चा विस्तृत रूप लेती है तथा उसमें नई-नई अपेक्षाओं का समावेश होता है और उसके मूल कलेवर के अनुसार उसमें अनेक सप्रमाण विचार-परम्पराएँ स्थान प्राप्त करके योग्य रूप से व्यवस्थित हो जाती हैं।<sup>३</sup> ईसा के बाद होने वाले दार्शनिकों ने जैन तत्त्व विचार को अनेकान्तवाद के नाम से प्रतिपादित कर भगवान् महावीर को इसका उपदेशक बताया। 'लघीयस्त्रय' में आचार्य अकलंकदेव ने लिखा है-

“सर्वज्ञाय निरस्तबाधकधिये स्याद्वादिने नाम,

स्यात्प्रत्यक्षमलक्षयन् स्वमतमभ्यस्याप्यनेकान्तभाक् ।

तत्त्वंशक्यपरीक्षणं सकलविज्ञैकान्तवादी ततः,

प्रेक्षावानकलंकं याति शरणं त्वामेववीरं जिनम् ॥५०॥

प्रमाण और नय से जीवादि तत्त्वों का सम्यग्ज्ञान होता है, अतः एकान्तवादी बौद्ध आदि अपने मत का अभ्यास करके, प्रत्यक्ष से ग्राह्य और परीक्षा करने के लिए शक्य भी अनेकान्तात्मक तत्त्व की ओर लक्ष्य नहीं करते, अतः वे सर्वज्ञ नहीं हो सकते। इसलिए विचारशील निर्दोष परीक्षकजन आप वीर जिनेन्द्र की ही शरण में जाते हैं। अतः सर्वज्ञता

और दोष एवं आवरण से रहित ज्ञानवान् स्याद्वादी आपके लिए हमारा नमस्कार है।

जैन ग्रंथों में क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद तथा वैनयिकवाद के अंतर्गत ३६३ मतों का उल्लेख मिलता है, यथा-

**असिदिसदं किरियाणं अक्किरियाणं च तह चुलसीदी।  
सतसद्धी अण्णाणी वेणइयाणं च बत्तीसा।<sup>४</sup>**

क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानवादियों के ६७ और विनयवादियों के ३२ इस प्रकार सब मिलाकर ३६३ भेद मिथ्यावादियों के होते हैं।

भगवान् महावीरकालीन दार्शनिक मतों को जानने के लिए आगम ही एकमात्र साधन है। पालि साहित्य (दीर्घनिकाय) में महात्मा बुद्ध के समकालीन छः तीर्थंकरों का उल्लेख आता है- पूरणकस्सप, मक्खलिगोसाल, अजित केसकम्बलि, पकुधकच्चायन, संजयवेलट्टिपुत्त तथा निगण्ठनातपुत्त (महावीर)। इसके अतिरिक्त और भी छोटे-मोटे शास्ता थे, जो अपने सिद्धान्तों को समाज में प्रचलित कर रहे थे। ब्रह्मजालसुत्त के ६२ दार्शनिक मत इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। इन्हें वहाँ गंभीर और दुर्जेय कहा गया है।

भगवान् महावीर को केवलज्ञान होने से पहले दस महास्वप्नों का दर्शन हुआ था, उनका उल्लेख भगवतीसूत्र में आया है।<sup>५</sup> इन स्वप्नों में से तीसरे स्वप्न का फल यह है कि भगवान् महावीर विचित्र ऐसे स्व-पर सिद्धान्त को बताने वाले द्वादशांग का उपदेश देंगे। पं० दलसुख मालवणिया के अनुसार पुंस्कोकिल की पाँख को बताने वाले द्वादशांग का उपदेश देंगे। पुंस्कोकिल की पाँख को चित्र-विचित्र कहने का और आगमों को विचित्र विशेषण देने का खास तात्पर्य तो यही मालूम होता है कि उनका उपदेश अनेकरंगी-अनेकान्तवाद माना गया है। चित्र-विचित्र विशेषण से सूत्रकार ने यही ध्वनित किया है। ऐसा निश्चय करना

तो कठिन है, किन्तु यदि भगवान् के दर्शन की विशेषता और प्रस्तुत चित्र-विचित्र विशेषण का कुछ मेल बिठाया जाए, तब यही संभावना की जा सकती है। यह विशेषण साभिप्राय है और इससे सूत्रकार ने भगवान् के उपदेश की विशेषता अर्थात् अनेकान्तवाद को ध्वनित किया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

सूत्रकृतांगसूत्र में भिक्षु कैसी भाषा का प्रयोग करें, इस प्रश्न के प्रसंग में कहा है- विभज्यवाद का प्रयोग करना चाहिए।<sup>६</sup> विभज्यवाद के संदर्भ में अधिक जानने के लिए बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन आवश्यक है। मज्झिमनिकाय में शुभ माणवक के प्रश्न के उत्तर में भगवान् बुद्ध ने कहा - हे माणवक! मैं यहाँ विभज्जवादी हूँ एकांशवादी नहीं।<sup>७</sup> जैन टीकाकार विभज्यवाद का अर्थ स्याद्वाद अर्थात् अनेकान्तवाद करते हैं। एकान्तवाद और अनेकान्तवाद का भी परस्पर विरोध स्पष्ट ही है। ऐसी स्थिति में सूत्रकृतांग गत विभज्यवाद का अर्थ अनेकान्तवाद, नयवाद, अपेक्षावाद या पृथक्करण करके, विभाजन करके किसी तत्त्व के विवेचन का वाद भी लिया जाये तो ठीक होगा। अपेक्षादि से स्यात् शब्दांकित प्रयोग आगम में देखे जाते हैं। एकाधिक भंगों का स्याद्वाद भी आगम में मिलता है। अतएव आगमकालीन अनेकान्तवाद या विभज्यवाद को स्याद्वाद भी कहा जाए तो अनुचित नहीं।

भगवान् बुद्ध का विभज्यवाद कुछ मर्यादित क्षेत्र में था और भगवान् महावीर के विभज्यवाद का क्षेत्र व्यापक था। यही कारण है कि जैनदर्शन आगे जाकर अनेकान्तवाद में परिणत हो गया और बौद्धदर्शन किसी अंश में विभज्यवाद होते हुए भी एकान्तवाद की ओर अग्रसर हुआ।<sup>८</sup>

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार विभज्यवाद का अर्थ है, “हर समस्या को विश्लेषित करके देखो, समस्याओं को मिलाओ। समस्या के समाधान में मिश्रण वाली बात व्यापक बनती है। समस्या को विभिन्न कोणों से देखना और सोचना होता है”।<sup>९</sup>

अद्यतन उपलब्ध समग्र साहित्य को ध्यान में रखकर प्रो० महेन्द्र कुमार जी ने काल विभाग इस प्रकार किया है-

१. सिद्धान्त आगमकाल	वि० ६वीं शती तक
२. अनेकान्त स्थापना काल	वि० ७-८वीं शती तक
३. प्रमाण व्यवस्था युग	वि० ८-१७ वीं शती तक
४. नवीन न्याय युग	वि० १८वीं शती से

### अनेकान्त का स्वरूप :

प्रत्येक दर्शन या धर्म के प्रवर्तक की एक आधारभूत विशेष दृष्टि होती है, जैसे- भगवान् बुद्ध की अपने धर्म प्रवर्तन में मध्यमप्रतिपदा दृष्टि है और शंकराचार्य की अद्वैतदृष्टि है। जैनदर्शन के प्रवर्तक महापुरुषों की मूलदृष्टि अनेकान्तवाद है। जैन वास्तव में अनन्तपदार्थवादी हैं। अनन्त आत्मद्रव्य, अनन्त पुद्गल द्रव्य और असंख्यात कालाणु द्रव्य--इस तरह अनन्तात पदार्थ पृथक्-पृथक् अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं। किसी भी सत् का सर्वथा विनाश नहीं होता और न ही कोई नूतन सत् उत्पन्न होता है। प्रत्येक पदार्थ प्रतिसमय अपनी पूर्वपर्याय को छोड़कर नवीन पर्याय को धारण करता है। यह उसका स्वभाव है कि वह प्रतिसमय परिणामन करता रहे। इस तरह पदार्थ पूर्व पर्याय का विनाश, उत्तर पर्याय का उत्पाद तथा ध्रौव्य इन तीन लक्षणों को धारण करते हैं।<sup>१०</sup> इस तरह प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इसके विलक्षण रूप है। यही जैन परम्परा में परिणाम का लक्षण है और लक्षण के अनुसार जैन दर्शन को परिणामी नित्यवादी दर्शन कहा जाता है।

जगत् का कोई भी पदार्थ क्यों न हो वह अनन्तगुणात्मक है उन अनन्तगुणों का परिणामन भिन्न-भिन्न निमित्तों से विभिन्न प्रकार का हुआ करता है। उन विभिन्न विशेषताओं को जब विभिन्न दृष्टिकोणों (अपेक्षाओं) से जाना जाता है तब प्रत्येक पदार्थ अनेक रूपों में प्रतीत होता है।<sup>११</sup> जैनदर्शन में वस्तु का स्वरूप अनेकान्तवाद माना गया है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार-



**अनेकान्तात्मक वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम् । एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य  
विषयो मतः।<sup>१२</sup>**

सब ज्ञानों का विषय अनेकान्तात्मक वस्तु है और नय का विषय एकदेश (धर्म) से विशिष्ट वस्तु है।

अनेकान्त का अर्थ है- परस्पर विरोधी दो तत्त्वों का एकत्र समन्वय। तात्पर्य यह है कि जहाँ दूसरे दर्शनों में वस्तु को सिर्फ सत् या असत्, सामान्य या विशेष, नित्य या अनित्य, एक या अनेक और भिन्न या अभिन्न माना है वहाँ जैनदर्शन में वस्तु को सत् और असत्, सामान्य और विशेष, नित्य और अनित्य, एक और अनेक तथा भिन्न और अभिन्न स्वीकार किया गया है और जैनदर्शन की यह सत्-असत्, सामान्य-विशेष, नित्य-अनित्य, एक-अनेक और भिन्न-अभिन्न रूप वस्तु विषयक मान्यता परस्पर विरोधी दो तत्त्वों के एकत्र समन्वय को सूचित करती है। 'अनेकान्त' यह शब्द 'अनेक' और 'अन्त' इन दो पदों के मेल से बना है। अनेक का अर्थ है- एक से भिन्न और अन्त का अर्थ है- धर्म।

प्रायः सभी दर्शन वस्तु को अनेकान्तस्वरूप स्वीकार करते ही हैं। ऐसा कोई दर्शन नहीं है, जो घटादि अर्थों को रूप, रसादि गुण विशिष्ट न मानता हो। जैनदर्शन की दृष्टि से भी प्रत्येक वस्तु में विभिन्न अपेक्षाओं से अनन्त धर्म रहते हैं। अतः एक वस्तु में अनेक धर्मों के रहने का नाम अनेकान्त नहीं है, किन्तु प्रत्येक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्म के साथ वस्तु में रहता है, ऐसा प्रतिदिन करना ही अनेकान्त का प्रयोजन है।<sup>१३</sup>

जैन दर्शन में वस्तु को अनेकान्तात्मक माना गया है। आचार्य अकलंक ने अन्त को अवयव, सामीप्य, समाप्ति, धर्म अथवा अंश का सूचक बताया है। वसनान्त, उदकान्त, संसारान्त- ये क्रमशः अवयव, सामीप्य और समाप्ति के वाचक उदाहरण हैं।<sup>१४</sup> आचार्य सिद्धसेन सन्मतितर्कप्रकरण में लिखते हैं -

**भयणा वि हु भइयव्वा जह भयणा भयइ सव्वदवाइ।  
एवं भयणा णिययो वि होइ समयाविरोहेण।।<sup>१५</sup>**

इस गाथा में अनेकान्त के लिए मूलतः 'भजनवाद' पद प्रयुक्त हैं। 'णमोअणेगंतवायस्स' के रूप में अनेकान्त शब्द का प्रयोग मिलता है। अनेकान्त की कतिपय प्रमुख परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार की आत्मख्याति टीका में लिखा है—

**“यदेव तत् तदेव अतत्, यदेवैकं तदेवानेकम्, यदेव सत् तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यम् इत्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादक- परस्परविरुद्धशक्तिद्वय- प्रकाशनमनेकान्तः”<sup>१६</sup>** अर्थात् वस्तु सर्वथा सत् ही है अथवा असत् ही है। इस प्रकार एक ही वस्तु में वस्तुत्व के निष्पादक परस्पर विरोधी धर्मयुगलों का प्रकाशन करना ही अनेकान्त है।

आचार्य अकलंकदेव के अनुसार, **“सदसन्नित्यानित्यादि सर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्तः”<sup>१७</sup>** अर्थात् वस्तु सर्वथा सत् ही है अथवा असत् ही है। नित्य ही है अथवा अनित्य ही है, इस प्रकार सर्वथा एकान्त के निराकरण करने का नाम अनेकान्त है।

वीरसेनाचार्य के अनुसार, **“को अणेयंतो णामजच्चंतरत्तं।”<sup>१८</sup>** जात्यन्तर भाव को अनेकान्त कहते हैं। अर्थात् अनेक धर्मों (स्वभावों) के एकरसात्मक मिश्रण से जो स्वाद (जात्यन्तर भाव) प्रकट होता है, उसे अनेकान्त कहते हैं।

परीक्षामुख में आचार्य माणिक्यनन्दी लिखते हैं— **“अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तस्वरूपानुपलब्धेः”<sup>१९</sup>** अर्थात् वस्तु अनेकान्तात्मक है अर्थात् अनेक धर्म वाली है क्योंकि वस्तु का एकान्त स्वरूप पाया नहीं जाता।

आचार्य अभिनवधर्मभूषण यति ने लिखा है— **‘अनेके अन्ताधर्माः सामान्य विशेष-पर्यायगुणा यस्येतिसिद्धोऽनेकान्तः’<sup>२०</sup>** अर्थात् जिसके अथवा जिसमें अनेक अन्त अर्थात् धर्म सामान्य, विशेष, पर्याय और गुण पाये जाते हैं उसे अनेकान्त कहते हैं।

28 : श्रमण, वर्ष ६४, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०१३

उपाध्याय यशोविजय जी के अनुसार- 'तत्त्वेषु भावाऽभादिषबलैकरूपत्वम्' अर्थात् तत्त्वों में भाव-अभावादि की अनेकरूपता अनेकान्त है।

‘भिक्षुन्यायकर्णिका’ में आचार्य तुलसी ने लिखा है- ‘एकत्र वस्तुनिविरोध्यविरोधिनामनेकधर्माणां स्वीकारः अनेकान्तः’<sup>२२</sup> अर्थात् विरोधी और अविरोधी अनेक धर्मों के स्वीकार को अनेकान्त कहा जाता है।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार अनेकान्त का अर्थ है- अभिन्नता को स्वीकार करना और भिन्नता में सह-अस्तित्व की संभावना को खोजना।<sup>२३</sup>

इन मनीषियों की परिभाषाओं के आलोक में यह फलित होता है कि परस्पर में विरोधी प्रतीत होने वाले दो धर्मों के अनेक युगल वस्तु में पाये जाते हैं। इसलिए नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत् इत्यादि परस्पर में विरोधी प्रतीत होने वाले दो धर्मों में समुदायरूप वस्तु को अनेकान्त कहने में कोई विरोध नहीं है। वस्तु केवल अनेक धर्मों का पिण्ड नहीं है, किन्तु परस्पर में विरोधी प्रतीत होने वाले अनेक धर्मों का भी पिण्ड है। प्रत्येक वस्तु विरोधी धर्मों का अविरोधी स्थल है। वस्तु का वस्तुत्व विरोधी धर्मों के अस्तित्व में ही है। यदि वस्तु में विरोधी धर्म न रहें तो उसका वस्तुत्व ही समाप्त हो जाए। अतः वस्तु में अनेक धर्मों के रहने का नाम अनेकान्त है।

अनेकान्त की परिभाषाओं में जो ‘वस्तु में परस्पर विरोधी अनेक धर्मों का पाया जाना’ अर्थ किया गया है उसमें अनेक शब्द का तात्पर्य दो संख्या से है। इस तरह अनेकान्त का वास्तविक अर्थ ‘वस्तु में परस्पर विरोधी दो धर्मों का एक ही साथ पाया जाना होता है। यह अर्थ वास्तविक इसलिए है कि परस्पर विरोधिता दो धर्मों में ही सम्भव है। डॉ० हुकुमचंद भारिल्ल के मत में, अनेकान्त ‘अनेक’ और ‘अंत’ दो शब्दों से मिलकर बना है। ‘अनेक’ का अर्थ है- एक से अधिक। एक से अधिक दो भी हो सकते हैं और अनन्त भी। दो और अनन्त के बीच में अनेक अर्थ सम्भव हैं तथा अन्त का अर्थ है- धर्म और गुण।

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः । सर्वथेति प्रदुष्यंति पुष्यंति स्यादितिह ते ।<sup>२४</sup>

अर्थात् सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक और वक्तव्य-अव्यक्तव्य ये परस्पर विरुद्ध आठ नयों के चार जोड़े हैं। इनको यदि सर्वथा एकान्तदृष्टि से माने तो ये एक-दूसरे के विरुद्ध हो जाते हैं किन्तु यदि स्यात् अर्थात् कथंचित् रूप से इन्हें स्वीकार करने पर ये एक-दूसरे के पोषक बने रहते हैं।

### अनेकान्त में अनेकान्त की योजना :

जिस प्रकार जीवादि प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है, उसी प्रकार अनेकान्त में भी अनेकान्त पाया जाता है। अर्थात् अनेकान्त सर्वथा अनेकान्त नहीं है, किन्तु कथंचित् एकान्त और अनेकान्त है। जब प्रमाण दृष्टि से समग्र वस्तु का विचार किया जाता है जब वह अनेकान्त कहलाता है और अब नय दृष्टि से विचार किया जाता है तब वही एकान्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अनेकान्त प्रमाण की अपेक्षा से अनेकान्त है और नय की अपेक्षा से एकान्त है। इस प्रकार अनेकान्त में भी अनेकान्तात्मकता सिद्ध होती है।

### भेद-प्रभेद :

अनेकान्त के दो प्रकार हैं- १. सम्यगनेकान्त और २. मिथ्या अनेकान्त। परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशन करने वाला सम्यगनेकान्त है। निरपेक्ष नाना धर्मों का समूह मिथ्या-अनेकान्त है।

अन्य प्रकार से अनेकान्त के दो भेद- १. सहानेकान्त और २. क्रमानेकान्त। एक साथ रहने वाले धर्मों-गुणों के समुदाय का नाम सहानेकान्त है और क्रम से होने वाले धर्मों- पर्यायों के समुच्चय का नाम क्रमानेकान्त है। इन दो प्रकार के अनेकान्तों के उद्भावक जैन दार्शनिक विद्यानन्दी हैं एवं इनके समर्थक आचार्य वादीभसिंह हैं।

इस प्रकार अनेकान्त को मानने में कोई विवाद नहीं होना चाहिए क्योंकि जो हेतु स्वपक्ष का साधक होता है, वही साथ में परपक्ष का दूषक भी होता है। इस प्रकार उसमें साधकत्व एवं दूषकत्व दोनों विरुद्ध धर्म एक

30 : श्रमण, वर्ष ६४, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०१३

साथ रूप-रसादि की तरह विद्यमान हैं। अतः समस्त साध्यों का साधक अनेकान्त सिद्धान्त ही है।

### सन्दर्भ सूची :

१. ऋग्वेद १.१६४.४६
२. उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः।  
न च तासु भवान् प्रदृष्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः॥ सिद्धसेन/द्वात्रिंशिका, ४/१५।
३. सन्मतितर्क प्रस्तावना, पृ० ८४
४. गोम्मटसार, ८७६
५. भगवतीशतक १६, उद्देशक ६
६. संकेज्ज याऽसंकितभाव भिक्खू, विभज्जवायं च वियागरेज्जा।  
भासादुगं धम्मसमुद्धितेहिं, बियागरेज्जा समययाऽऽसमुपण्णे॥ सूत्रकृतांग १/१४-२२
७. मज्झिमनिकाय, सुत्त ९९
८. आगम युग का जैनदर्शन, डॉ० दलसुख मालवणिग्या, पृ० ५४-५५
९. सोया मन जाग जाये, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ० १५५
१०. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, तत्त्वार्थसूत्र, ५/३०
११. तीर्थंकर वर्द्धमान, आचार्य विद्यानन्द, पृ० ७०-७१
१२. न्यायावतार, आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, कारिका, २९
१३. आप्तमीमांसा, तत्त्वदीपिका की प्रस्तावना, प्रो० उदयचन्द्र जैन, पृ० ८९
१४. राजवार्तिक, अकलंक, २.२२
१५. आचार्यसिद्धसेन, ३/२७
१६. समयसार (आत्मख्याति टीका आचार्य अमृतचन्द्र), १०/२४७
१७. अष्टशक्ति/ अष्टाहस्त्री, पृ० २८६
१८. धवला, १५/२५
१९. परीक्षामुख सूत्र, ८५
२०. न्यायदीपिका, पृ० २२०
२१. अनेकान्त व्यवस्था प्रकरणम्, उपाध्याय यशोविजय
२२. भिक्षुन्यायकर्णिका, ४/७
२३. जैनदर्शन और अनेकान्त प्रस्तुति, पृ० १
२४. स्वयंभूस्तोत्र, १०१
२५. वही, १०३

\*\*\*\*

## संस्कृत एवं अन्य भाषाओं के जैन कोशों का अध्ययन

ओम प्रकाश सिंह

जैन परम्परा में उपलब्ध कोशों को भाषा की दृष्टि से संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और अन्य भाषा के कोशों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है। जैन परम्परा में विभिन्न शब्दों के पर्यायवाची प्रश्नव्याकरणसूत्र के साथ निर्युक्ति, भाष्य और चूर्ण में प्राप्त होते हैं। वर्तमान में उपलब्ध स्वतंत्र कोश की दृष्टि से नवम् शताब्दी में उपलब्ध धनञ्जय नाममाला सर्वप्रथम कोश कृति है। प्रस्तुत शोध सारांशिका में जैन परम्परा के कोशों का भाषागत आधार पर वर्गीकृत कर सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है।

— सम्पादक

साहित्य के क्षेत्र में सामान्यतः कोश शब्दकोश संग्रह एवं शब्दावली के रूप में प्रयुक्त होता है। वामन शिवराम आष्टे ने कोश के २४ अर्थ बताये हैं। विद्वानों द्वारा दी गयी कोश शब्द की परिभाषा के अनुसार कोश उसको कहा जाता है, जिसमें वर्णानुक्रम में शब्द, उसके पर्यायवाची तथा उसके अर्थ दिये जाते हैं। संदर्भ ग्रन्थों एवं विश्वकोशों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जहां शब्दकोश किसी विषय की बोधगम्यता अथवा किसी प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम उस शब्द अथवा पद का अभिप्राय, तात्पर्य या अवधारणा से हमें अवगत कराता है वहीं विश्वकोश उस क्षेत्र के सभी विषयों पर पूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है। इस प्रकार कोश में शब्दकोश, पारिभाषिक शब्दावली, भौगोलिक कोश ऐतिहासिक कोश, उद्धरण संग्रह, विषय विशेष को लेकर बनी सूचियाँ या अन्य उद्देश्य से बने शब्द संग्रह आदि सभी समाहित हैं। जैन परम्परा के मूर्धन्य विद्वान स्व० डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार प्रत्येक दर्शन की अपनी मान्यतायें होती हैं और उन्हीं मान्यताओं के अनुसार उन शब्दों को तत् - तत् परम्परा के अनुसार परिभाषित किया जाता है।

32 : श्रमण, वर्ष ६४, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०१३

अतः उन पारिभाषिक शब्दों का तात्त्विक अर्थ उस परम्परा के आचार्य ही कर सकते हैं। उस प्रकार प्रत्येक दर्शन या आमनाय में आवश्यकतानुसार नये-नये शब्दार्थों का गठन या संयोजन किया जाता है। इस प्रकार के विशिष्ट कोश ग्रन्थों का उस परम्परा विशेष के अनुसार इंगित करना युक्तिसंगत है।

जैन साहित्य एक प्राचीन और समृद्ध साहित्य है, इसमें समय-समय पर अनेकविध कोशों की रचना हुई है। हमारे शोध का उद्देश्य जैन परम्परा में उपलब्ध जैन कोशों का विभिन्न आयामों में अध्ययन तथा मूल्यांकन करना है। इस शोध प्रबन्ध में लगभग १०० से अधिक जैन कोशों की जानकारी प्राप्त होती है। जिसमें संस्कृतभाषा के कोशों की संख्या ५३, प्राकृत भाषा के कोशों की संख्या १५, हिन्दी भाषा के कोशों की संख्या ३४ तथा अन्य भाषा के कोशों की संख्या १५ है। प्रस्तुतीकरण की सुविधा की दृष्टि से शोध प्रबन्ध को निम्न अध्यायों में वगीकृत किया गया है-

१. कोश का महत्त्व तथा जैन कोश का उद्भव एवं विकास
२. संस्कृत भाषा के जैन कोश एवं कोशकार
३. प्राकृत भाषा के जैन कोश एवं कोशकार
४. हिन्दी भाषा के जैन कोश एवं कोशकार
५. अन्य भाषाओं के जैन कोश एवं कोशकार
६. उपसंहार

### प्रथम अध्याय :

**कोश का महत्त्व तथा जैन कोश का उद्भव एवं विकास** – कोश को भारतीय वाङ्मय में व्यावहारिक साहित्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। इसका अस्तित्व ढाई हजार वर्ष से भी पूर्व मिलता है। लोकजीवन एवं संस्कृति की आधारशिला और भाषा का बल है शब्द। कोश इन शब्दों का संग्रह करते हैं। आचार्य अन्नंभट्ट ने आगम प्रामाण्य में आप्त पुरुष के वचन को प्रमाण कहा है। यहाँ पर वचन से

अभिप्रेत है उचित शब्द से कि सअर्थ का आदेश दिया जाता है इसकी स्पष्टतया प्रधानरूपेण कोश के द्वारा ही होती है।

कोश के दो मुख्य प्रकार होते हैं-

१. शब्दकोश
२. विषयकोश

**शब्द कोश** - पुस्तककोश, साहित्यकार कोश, साहित्यधारा कोश, कालकोश, बोली कोश, भाषा कोश।

भाषा और बोली के कोश अनेक प्रकार के होते हैं।

**विषय कोश** - विश्वकोश, परिभाषाकोश, सूक्तिकोश, नामकोश, लोकोक्ति कोश, मुहावराकोश, प्रयोगकोश आदि। विषय कोश की संख्या तो और भी अधिक हो सकती है।

वैदिक साहित्य से सम्बद्ध निघंटुओं को प्रारम्भिक कोश कहा जा सकता है। जैन साहित्य के विस्तार ने अपनी परम्परा में भी कोश-निर्माण का मार्ग प्रशस्त कर दिया। जैन परम्परा का सर्वाधिक प्राचीन साहित्य आगम अर्धमागधी प्राकृत में है। जैन परंपरा में शब्दकोश का प्रारम्भिक स्वरूप मूल आगम साहित्य, निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि में उपलब्ध होता है। भगवतीसूत्र में भी कोश के विषय में चर्चा की गई है। प्रश्नव्याकरण दसवाँ अंग है इसमें भी एकार्थक शब्दों का अनेक स्थलों पर निर्देश हुआ है। असत्यवाची के ३० पर्याय गिनाये गये हैं।

आगमों के व्याख्या साहित्य में निर्युक्तियों का प्रथम स्थान है। आचार्य भद्रबाहु ने अनेक ग्रन्थों पर निर्युक्तियाँ लिखी हैं। निर्युक्तियों में अनेक स्थानों पर एकार्थक शब्द की चर्चा है। उदाहरणार्थ -

१. **आवश्यकनिर्युक्ति** में सूत्र के एकार्थक शब्द-सूत्र, तंत्र, ग्रंथ, पाठ, शास्त्र। अनुयोग के एकार्थक शब्द-अनुयोग, नियोग,



भाषा, विभाषा, वार्तिक। सामायिक शब्द के पर्याय-सामायिक सम्यवाद, समाज संदोप प्रत्याख्यान।

२. **दशद्वैकालिक निर्युक्ति** में श्रमण शब्द के २० पर्यायवाची, साधु शब्द के २८ पर्यायवाची, वृक्ष शब्द के १२ एकार्थक और पुष्प शब्द के छः एकार्थक बताये गये हैं।
३. **उत्तराध्ययननिर्युक्ति** में आय, अंग, संयम, आदि शब्दों के ३ से लेकर ८ एकार्थक बताये गये हैं।
४. **आचारांग निर्युक्ति** में आचार, अवधूनन, जिनशासन आदि शब्दों के ८ से १५ एकार्थक शब्द दिये गये हैं।

जैन आगम के व्याख्य साहित्य में निर्युक्ति के बाद भाष्य का स्थान आता है। भाष्य में भी एकार्थक शब्दों को देखा जा सकता है जैसे व्यवहार भाष्य में।

भाष्य के बाद जैन आगमों के व्याख्या साहित्य में चूर्णियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनेक आगमों पर चूर्णियाँ लिखी गयी हैं। इनका रचनाकाल विक्रम की पांचवीं शताब्दी है। जिनदास गणि महत्तर चूर्णिकारों में अग्रणी हैं। इन चूर्णियों में अनेक शब्दों के पर्याय-नाम उल्लिखित हैं-

१. मग्गातोत्ति वा पिट्टउत्ति वा (आवश्यकचूर्ण, पूर्वभाग, पृ० ५६)
२. मार्णत्ति वा परिच्छेदोत्ति वा गहणपगोत्ति वा एगट्टा (आवश्यकचूर्ण पूर्वभाग पृ० ३७६)
३. अभिप्यायोत्ति वा बुद्धित्तिवा एगट्टं। (आवश्यकचूर्ण, पूर्वभाग, पृ० ५४३)
४. खमत्ति वा तितिक्खत्ति वा को हनिरोहत्ति वा । (आवश्यक-चूर्ण, उत्तरभाग, पृ० ११६)

आगमोत्तर परंपरा में अनेक कोशों की रचना हुई। प्राचीन कोश ग्रंथों के उद्धरणों को देखने से ज्ञात होता है कि प्राचीन कोशों की अपेक्षा सर्वथा भिन्न थे। पुरातन समय में व्याकरण और कोश का विषय लगभग एक ही श्रेणी का था। दोनों ही शब्दशास्त्र के अंग थे।

लौकिक संस्कृत भाषा के उपलब्ध कोशों में सबसे प्राचीन और ख्याति प्राप्त अमर सिंह का अमरकोश है। अमर सिंह बौद्ध धर्मावलम्बी थे, कुछ विद्वान इन्हे जैन भी मानते हैं, इनका समय चौथी शताब्दी माना जाता है। जैन परम्परा में सर्वप्रथम उपलब्ध कोश की कृतियों के रूप में नवीं शती में महाकवि धनञ्जय के तीन कोश उल्लेख होते हैं—नाममाला, अनेकार्थ नाममाला, अनेकार्थ निघण्टु। जैन कोश साहित्य की समृद्धि की दृष्टि से बारहवीं शताब्दी महत्त्वपूर्ण है। इस शती में केशवस्वामी ने नानार्थार्णव संक्षेप एवं शब्दकल्पद्रुम की रचना की है। इस शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थ संग्रह, निघण्टुशेष और देशीनाममाला कोशों की रचना की है। चौदहवीं शताब्दी में श्रीधर सेन ने विश्वलोचन कोश की रचना की है। इसका दूसरा नाम मुक्तावली कोश है।

आधुनिक जैन कोश ग्रंथों की रचना उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से प्रारम्भ होती है। उनका प्रकाशन बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से होता है तब से लेकर अब तक जैन कोशों की रचना होती रही है। आधुनिक कोश ग्रंथों, में अभिधानराजेन्द्र कोश (सात भागों), अर्धमागधी कोश (चार भाग), अभिधानराजेन्द्रकोश, पाइअसद्महण्णवो, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (पांच भागों), जैनलक्षणावली (तीन भाग), प्राकृत हिन्दी कोश आदि अनेक कोश उपलब्ध होते हैं जिनका विवेचन इसी शोध प्रबन्ध में किया गया है।

## द्वितीय अध्याय :

### संस्कृत भाषा के जैन कोश एवं कोशकार —

१. **धनञ्जय नाममाला** — उपलब्ध संस्कृत जैन कोशों में धनञ्जय नाममाला सर्वप्रथम कोश है। इनका समय नौवीं शताब्दी है।

इस कोश में २०० श्लोको में संस्कृत भाषा के प्रमुख शब्दों का संकलन कर गागर में सागर भरने का प्रयास किया गया है।

२. **वस्तु कोश** – कवि शिरोमणि नागवर्म द्वितीय ने जहाँ संस्कृत में भाषा-भूषण नाम उत्कृष्ट व्याकरण की रचना की वहीं कन्नड़ भाषा में प्रयुक्त होने वाले संस्कृत शब्दों के अर्थ हेतु पद्यमय निघण्टु या वस्तु कोश की रचना की। इसका समय ११३९-११४९ ई० है।
३. **अभिधानचिन्तामणि** – जैन कोशों में अभिधानचिन्तामणि का विशिष्ट स्थान है। इसके रचयिता आचार्य हेमचन्द्र हैं। इस कोश में जैन पारिभाषिक शब्दों का वर्णन मिलता है। इसकी तुलना अमर कोश से करते हैं। इसमें छः काण्ड हैं—  
१. देवाधिदेव काण्ड, २. देवकाण्ड, ३. मर्त्यकाण्ड, ४. तिर्यक्काण्ड, ५. नारक काण्ड और ६. साधारण काण्ड ।
४. **अनेकार्थ संग्रह** – इस कोश में प्रत्येक शब्द के अनेक अर्थ प्रतिपादित किये गये हैं। इस कोश के रचनाकार आचार्य हेमचन्द्र हैं। इस कोश में १८८९ पद्य हैं। यह कोश अभिधानचिन्तामणि के बाद रचा गया है।
५. **निघण्टु शेष** – इसे वनस्पति कोश भी कहते हैं इसमें छः काण्ड हैं— वृक्ष, लता, गुल्म, शाक, तृण और धान्य काण्ड। इसकी श्लोक संख्या ३९६ है। इसके रचनाकार आचार्य हेमचन्द्र हैं।
६. **श्लोञ्छ कोश** – अभिधानचिन्तामणि के दूसरे परिशिष्ट के रूप में यह कोश बनाया गया है। रचनाकार जिनदेव मुनि हैं। जिनरत्नकोश के अनुसार इनका समय १४३३ के आसपास है। इसमें १४० श्लोक प्राप्त होते हैं।
७. **नाममाला कोश** – इसके रचयिता सहजकीर्ति हैं। इनके निश्चित काल का ज्ञान नहीं हो पाया है। कोश के आधार पर आपका समय सोलहवीं शताब्दी निश्चित होता है।

८. **सुन्दरप्रकाश शब्दार्णव** — इस कोश के प्रणेता पद्मसुन्दर हैं। यह रचना वि० सं० १६१९ की है। इसमें २६६८ श्लोक हैं। यह कोश शब्दों तथा उनके अर्थों की विशद विवेचना करता है।
९. **नाम संग्रह** — इसके रचयिता भानुचन्द्रगणि हैं। इनका समय वि० १६४८ है। कोश के अन्य नाम हैं- अधिधान नाममाला तथा विविक्त नाम संग्रह ।
१०. **शारदीय नाममाला** — इस कोश के प्रणेता चन्द्रकीर्ति सूरि के शिष्य हर्षकीर्ति सूरि हैं। इनका समय सत्रहवीं शताब्दी है। इस कोश में कुल ३०० श्लोक हैं।
११. **शेषनाममाला** — मुनि साधुकीर्ति जी ने इस कोश की रचना की है। इनका समय भी सत्रहवीं शती है।
१२. **शब्दरत्नाकर** — मुनि सुन्दरगणि ने वि०सं० १६८० में इस कोश की रचना की थी। इसमें छः काण्ड हैं। अर्हत, देव, मनुष्य, तिर्यक्, नारक, सामान्य, काण्ड।
१३. **विश्वलोचन कोश** — मुनि धरसेन ने विश्वलोचन कोश की रचना की है। इसका दूसरा नाम मुक्तावलीकोश भी है। इनका समय चौदहवीं शताब्दी माना जाता है। इस अनेकार्थ कोश में २४५३ श्लोक हैं।
१४. **अपवर्गनाममाला** — इसके प्रणेता जिनभद्रसूरि हैं। इसका रचनाकाल १२वीं शताब्दी निश्चित होता है।
१५. **एकाक्षर नाम मालिका** — इसका प्रणयन १२वीं शताब्दी में अमर द्वारा किया गया है। इसमें कुल २१ श्लोक हैं।
१६. **एकाक्षर कोश** — एकाक्षर कोश महाक्षपणक प्रणीत है। इसमें कुल ४१ श्लोक हैं।
१७. **एकाक्षर नाममाला**- इसके प्रणेता मुनि सुधाकलश हैं। इसमें कुछ ५० श्लोक हैं। इनका समय सत्रहवीं शताब्दी है।

38 : श्रमण, वर्ष ६४, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०१३

उपर्युक्त कोश ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ छोटे ग्रन्थों की रचना १८वीं शताब्दी के पूर्व हो चुकी हैं जो निम्न है-

निघण्टु समय, अनेकार्थ नाममाला, अभिधान चिन्तामणि अवचूरि, शब्दचन्द्रिका, शब्दभेदनाममाला, अव्यय एकाक्षर नाममाला, शब्दसन्दोह संग्रह, शब्दरत्न प्रदीप, गीतार्थ कोश, पंचसंग्रह नाममाला, एकाक्षरी नानार्थकाण्ड आदि। इन सभी कोशों पर मनीषी विद्वानों ने टीका भी लिखी है जो निम्न है- धनञ्जय नाममाला भाष्य-अमरकीर्ति, अनेकार्थ नाममालाटीका, अभिधानचिन्तामणि, अवचूरि, अभिधान चिन्तामणि बीजक, अभिधान चिन्तामणि नाममाला प्रकावली, अनेकार्थ संग्रहटीका, निघण्टु शेष टीका आदि।

**तृतीय अध्यायः**

**प्राकृत भाषा के जैन कोश एवं कोशकार-**

१. **पाइयलच्छीनाममाला-** यह कोश उपलब्ध प्राकृत कोशों में प्रथम है। इसके रचनाकार पं० धनपाल जैन हैं। इसका समय वि० सं० १०२९ है। इस कोश में २७६ गाथाएं हैं। इसमें २९८ शब्दों के पर्यायवाची शब्दों का संकलन है।
२. **देशी नाममाला -** यह देशी शब्दों का कोश है। इसके प्रणेता आचार्य हेमचन्द्र हैं। इनका समय १२वीं शताब्दी माना जाता है। इनसे ७८३ गाथायें हैं।
३. **अभिधानराजेन्द्र कोश -** इसके प्रणेता विजय राजेन्द्र सूरि हैं। इस कोश में प्राकृत जैन, आगम एवं व्याख्या साहित्य में उल्लिखित सिद्धान्त, इतिहास, शिल्प, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा आदि विषयों का संग्रह किया गया है। इस कोश को तैयार करने के लिए ९७ ग्रंथों का उपयोग किया गया है। अनेक विषयों का संग्रह करने के लिए इसमें ६०,००० शब्दों का प्रयोग किया गया है। यह १०,००० पृष्ठों का विशाल

ग्रन्थ डबल डिमाई आकार में ७ भागों में प्रकाशित है। इसे विश्व कोश माना जाता है।

४. **अर्धमागधी कोश** — इस ग्रन्थ के प्रणेता मुनि रत्नचन्द्र हैं। पांच भाषाओं में होने के कारण इसे हम पंचभाषा कोश भी कह सकते हैं। यह कोश ३६०० पृष्ठों का है। इसमें ४९ ग्रन्थों से चुने हुये ५०,००० शब्दों का संग्रह किया गया है।
५. **पाइसहमहण्णवो** — इसके प्रणेता पं० हरगोविन्ददास त्रिविक्रम सेन हैं। इस कोश को तैयार करने में ३०० ग्रन्थों की सहायता ली गयी।
६. **पुरातन जैन वाक्य सूची** — इसके प्रणेता जैन विद्या के मर्धन्य विद्वान पं० जुगल किशोर मुख्तार हैं। इसमें ६४ मूल ग्रन्थों की सहायता ली गयी है। इसमें २५३५२ प्राकृत पद्यों की अनुक्रमणिका है। इसका प्रकाशन वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली से सन् १९५० में हुआ है।
७. **अल्पपरिचित सैद्धान्तिक कोश** — आगम ग्रंथों में उपलब्ध होने वाले ऐसे शब्द जो विद्यार्थी के लिए कठिन प्रतीत होते हैं उनका यहाँ विशेष संग्रह किया गया है इसका प्रकाशन वर्ष १९५२ है।
८. **जैनागम शब्द संग्रह** — इसका दूसरा नाम अर्धमागधी- गुजराती कोश है। इसके कर्ता मुनि रत्नचन्द्र हैं। कोश में मूल शब्द अर्धमागधी में दिये गये हैं और गुजराती में उनके अर्थ दिये गये हैं। इसका समय सन् १९२६ है।
९. **आगमशब्द कोश** — आगम शब्द कोश में मूलशब्दों को अकारादिक्रम में रखकर उनकी संस्कृत छाया दी गयी है। इस कोश का उद्देश्य है आगम में प्रयुक्त शब्दों का स्थान निर्देश करना। इस कोश में तीन प्रकार के शब्द उपलब्ध हैं, तत्सम,

तद्भव और देशी। इसके सम्पादक आचार्य महाप्रज्ञ हैं। इसका प्रकाशन वर्ष १९८७ ई०। यह सन्दर्भ कोश है।

१०. जिनरत्नकोश - इसके संकलन कर्ता एच० डी० वेलणकर जी हैं। यह कोश अति महत्त्वपूर्ण ५३ ज्ञान भण्डारों के आधार पर अकारादि क्रम से संग्रहीत जैन ग्रन्थों की सूची है। इसमें जितने भी ग्रंथ हैं उन सभी की पाण्डुलिपियों का स्थान निर्देश दिया गया है।

### चतुर्थ अध्याय :

#### हिन्दी भाषा के जैन कोश एवं कोशकार -

१. **लेश्याकोश** - यह श्वेताम्बर वाङ्मय पर आधारित विषय कोश है। इसके सम्पादक श्री मोहन लाल बांठिया हैं। यह कोश १९६६ में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है। इस कोश में जैन विषय को सर्वविदित दशमलव वर्गीकरण के आधार पर १०० वर्गों में विभक्त किया गया है।
२. **क्रियाकोश** - यह विषय कोश है। इसका प्रकाशन १९६९ ई० में जैन दर्शन समिति, कलकत्ता से किया गया है। इसके सम्पादक मोहन लाल बांठिया हैं। इसका निर्माण भी दशमलव वर्गीकरण के आधार पर किया गया है।
३. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश** - यह विषय कोश है। इसमें लगभग ६००० शब्दों तथा २१०० विषयों का वर्णन है। इसके प्रणेता क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी हैं। यह कोश २० वर्षों के सतत् अध्ययन के परिणाम स्वरूप बना है। इसमें तत्त्वज्ञान, आचारशास्त्र, कर्मसिद्धान्त पौराणिक, विषय, आगम, दार्शनिक, सम्प्रदाय आदि का ससन्दर्भ प्रामाणिक विवेचन है। इस कोश को विश्वकोश का दर्जा दिया जाता है।
४. **जैन लक्षणावली** - इस कोश के सम्पादक श्री बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री हैं। यह एक जैन परिभाषिक कोश है। इसमें

४०० दिगम्बर एवं श्वेताम्बर ग्रंथों के पारिभाषिक शब्दों का संकलन है। यह कोश तीन भागों में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुआ है। इसके प्रकाशन का वर्ष १९७२-१९७६ के मध्य का है।

५. **वर्धमान जीवन कोश** — इस कोश के सम्पादक मोहनलाल बांठिया हैं। इस कोश में जैन आगम साहित्य और जैन आगमेतर साहित्य का अध्ययन कर भगवान महावीर (वर्धमान) के जीवन से सम्बन्धित यथाशक्ति सभी प्रसंगों का संकलन करने का प्रयास किया गया है।
६. **नानार्थोदय सागर कोश** — इस कोश के सम्पादक घासीलाल जी म० सा० हैं। इस कोश में २२९४ श्लोक हैं। इस कोश में शब्दों के एकाधिक अर्थों को दिखाने के लिए समानार्थी शब्दों का संग्रह किया गया है।
७. **प्राकृत हिन्दी कोश** — इस कोश के सम्पादक प्राकृत विद्या के मूर्धन्य विद्वान् डा० के० आर० चन्द्रा हैं। इसका प्रकाशन १९८७ में पार्श्वरवनाथ विद्यापीठ, वाराणसी से हुआ है। यह कोश ग्रंथों के अवतरण आदि से रहित होने के कारण अनावश्यक भार से मुक्त है। प्राकृत भाषा के प्राथमिक विद्यार्थी के लिए महत्वपूर्ण है। इसमें अकारादि क्रम से शब्दों को सजाया गया है।
८. **एकार्थक कोश** — इस कोश की सम्पादिका समणी कुसुम प्रज्ञा हैं। यह कोश १९८४ ई० में जैन विश्वभारती संस्थान लाडनू से प्रकाशित हुआ। इसकी पृष्ठ संख्या ३९६ है। यह कोश गद्य-पद्य मिश्रित है। इसमें १७०० एकार्थक शब्दों का संकलन है। प्रत्येक एकार्थक का अर्थ निर्देश और प्रमाण दिया गया है।
९. **भिक्षु आगम विषय कोश** — इस कोश की सम्पादिका साध्वी विमल प्रज्ञा हैं। यह कोश जैन विश्वभारती संस्थान लाडनू से प्रकाशित हुआ है। भिक्षु आगम विषय में १७८ मुख्य विषयों



के आधार पर अनेक विषयों को चर्चा की गयी है। इसमें विषयों का संकलन और उनका विस्तृत विवेचन है।

१०. **जैन आगम वनस्पति कोश** — जैन आगम वनस्पति कोश अपने आप में एक अनूठा प्रयोग है। यह कोश आगम में उल्लिखित वनस्पति विषयक शब्दों का संग्रह है। मूल शब्द प्राकृत भाषा में, कोष्ठक में संस्कृत छाया तथा टीकाकार द्वारा दिया गया अर्थ भी मुख्य रूप से संग्रहीत है। यह कोश जैन विश्वभारती संस्थान लाडनू से १९९६ में प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक मुनि श्री चन्द्र कमल जी हैं।

११. **जैन पारिभाषिक शब्द कोश** — इस कोश के सम्पादक आचार्य महाप्रज्ञ हैं। इसका प्रकाशन जैन विश्वभारती संस्थान लॉडनू से २००९ ई० में हुआ है। इस कोश में १०३ ग्रंथों के आधार पर अकारादिक्रम से पारिभाषिक शब्दों के अर्थ को समझाया गया है। इसमें अधिकांश परिभाषायें प्राचीन ग्रंथों पर आधारित हैं। इस कोश में बिना किसी पूर्वाग्रह के श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परंपराओं के मौलिक श्रुत का उपयोग किया है।

उक्त कोशों के अतिरिक्त अनेक कोश हैं जिनकी सूची इस प्रकार है-

१. देशी शब्द कोश — आचार्य महाप्रज्ञ
२. निरुक्त कोश — आचार्य महाप्रज्ञ
३. कुन्दकुन्द शब्द कोश — डॉ० उदय चन्द्र जैन
४. जैन पारिभाषिक शब्द कोश — महो० चन्द्रप्रभासागर
५. पुष्कर सूक्ति कोश — आ० देवेन्द्र मुनिशास्त्री
६. जैन पुराण कोश — प्रो० प्रवीण चन्द्र जैन
७. जैन संस्कृति-कोश — प्रो० भागचन्द्र जी जैन 'भाष्कर'
८. प्राकृत हिन्दी-कोश — प्रो० उदय चन्द्र जैन
९. जैन योग पारिभाषिक कोश — मुनि राकेश कुमार

संस्कृत एवं अन्य भाषाओं के जैन कोशों का अध्ययन : 43

१०. प्राकृत सूक्ति कोश — महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर  
११. संस्कृत-प्राकृत हिन्दी और — प्रो० उदय चन्द्र जैन कोश  
अंग्रेजी कोश

**पंचम अध्याय :**

**अन्य भाषा के जैन कोश एवं कोशकार**

**1. JAIN GEM DICTIONARY by J. L. Jaini**

इस कोश का प्रकाशन १९१९ में आगरा से हुआ है। जैन धर्म को अंग्रेजी भाषा में जैनी महोदय ने प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

**2. DICTIONARY OF PRAKRIT PROPER NAMES by Mohan Lal Mehta & K. R. Chandra**

जैन साहित्य विशेषतः आगमों में उल्लिखित व्यक्तिगत नामों के संदर्भ में यह कोश एक अच्छी जानकारी प्रस्तुत करता है। इसका प्रकाशन १९७२ ई० में अहमदाबाद से दो भागों में किया गया है।

**3. JAIN BIBLIOGRAPHY by Dr. A.N. Upadhye**

इस ग्रंथ में देश-विदेश में प्रकाशित जैन ग्रंथों एवं पत्रिकाओं से ऐसे विषयों अथवा सन्दर्भों को विषयानुसार एकत्रित किया गया है।

**4. ENCYCLOPAEDIA OF JAINISM by Dr. Nagendra Singh**

यह एक विश्वकोश है। इसमें जैन साहित्य, आगम, दर्शन, कला, स्थापत्य, वास्तुशास्त्र, औषधिविज्ञान, चित्रकला आदि विषयों की विस्तृत जानकारी दी गयी है। यह कोश सन् २००० में ३० भागों में दिल्ली से प्रकाशित हुआ है।

**5. ENCYCLOPAEDIA OF JAIN STUDIES-VOL-1**

**ART AND ARCHITECTURE** by Prof. M.N.P. Tiwari, Prof. Hrihar Singh and Prof. Kamal Giri

44 : श्रमण, वर्ष ६४, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०१३

विश्व कोश पार्श्वनाथ विद्यापीठ से २०११ में प्रकशित हुआ है। कला एवं स्थापत्य सम्बन्धी सम्पूर्ण जानकारी चित्र सहित संग्रहीत है।

इसके अतिरिक्त अनेक कोश हैं-

1. DICTIONARY OF JAIN TERMS by Prof. Mukul Raj Mehta

2. DICTIONARY OF JAIN TECHNICAL TERMS by Ac. Mahaprajna

3. GLOSSARY OF JAIN TERMS by Dr. N.L. Jain

४. अपभ्रंश- हिन्दी कोश — डॉ० नरेश कुमार

५. गुजराती विश्वकोश — धीरू भाई ठाकर

६. जैन ज्ञान महोदधि — त्रिभुवनदासा।

**षष्ठ अध्याय :**

**उपसंहार**

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि प्राची और अर्वाचीन विद्वानों ने साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति कोश-निर्माण में भी विशेष रुचि दिखलाई है। जैन साहित्य अर्धमागधी, शौरसैनी, महाराष्ट्री आदि प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध है, ये भाषायें आज अत्यन्त दुरूह हो गयी हैं। अतएव इस विपुल साहित्य को समझने के लिये कोशों की नितान्त उपयोगिता है।

प्राचीन जैन कोशों के अवलोकन मात्र से यह बात भी उभर कर आ रही है कि यद्यपि जैन साहित्य प्राकृत में था किन्तु जैन परम्परा में प्राकृत कोशों की तुलना में संस्कृत कोशों की अधिकता है।

आधुनिक काशों में हिन्दी, गुजराती और अग्रेजी में जैन कोश, विषय कोश, उदाहरण कोश आदि प्रस्तुत करने का प्रयोजन जैन अध्ययन में संलग्न छात्रों, शोधार्थियों और विद्वानों को सम्यक् आधार प्रदान करना है।

कोश-निर्माण की दृष्टि से देखा जाय तो यह कहना अनुचित न होगा कि प्राचीन आचार्य इस विषय में दक्ष थे। आरम्भिक कोश पद्य में लिखे गये क्योंकि उन्हें कण्ठस्थ करना सरल था। कुछ कोश पर्यायवाची शैली में लिखे गये, कुछ विषय के अनुसार वर्गीकृत हुये, धीरे-धीरे अकारादिक्रम में भी कोश लिखने की विधा चल पड़ी, क्योंकि अब समस्त पुस्तक को कण्ठस्थ करने की प्रवृत्ति समाप्त हो गयी है। आधुनिक जैन कोश अकारादिक्रम में हैं।

जैन कोशों का एक विशिष्ट महत्त्व यह है कि उनमें देशी शब्द भी अधिक मात्र में संग्रहीत हैं। आज व्यवहार में प्रचलित ऐसे बहुत शब्द हैं जो न तो तत्सम हैं और न ही तद्भव। अतएव उन्हें संस्कृत कोशों में नहीं खोजा जा सकता अपितु प्राकृत कोशों में उन्हें प्राप्त किया जा सकता है। जैन कोश महत्त्वपूर्ण पूरक रूप से हमारे ज्ञान की अभिवृद्धि करते हैं।

\*\*\*\*

## Literature on Prakrit Grammar

Ashok Kumar Singh

*Irony with the literature on Prakrit grammar is that not even a single work of Prakrit grammar is available in Prakrit language. All the available texts on the subject are written in Sanskrit. The reason may be that the vocabulary of the Prakrit language consists of three types of words-Tatsama (Sanskrit equivalent), Tadbhava (derived from Sanskrit) and Deśya (underivable). That is the objective of the Prakrit grammarians was to provide rules for the formation of Prakrit words from their Sanskrit equivalents. Hence Sanskrit was the medium of instruction. To facilitate the presentation of available works – texts, commentary and studies, may be classified into–(I) Texts on Prakrit grammar, (II) Works on the part of Prakrit grammar, (III) Modern works on Prakrit grammar, (IV) Works on the Dialects of Prakrit grammar such as on a. Apabhraṁśa, b. Ardhamāgadhī, c. Deśya Prakrit, d. Inscriptional Prakrit, e. Māgadhī and f. Saurśenī, (V) Works on comparative grammar, (VI) General modern works on Prakrit language and their catalogues and (VII) Prakrit works referred to.*

–Editor

Prakrit Vyākaraṇa (lost), ascribed to Digambar Ācārya Samantabhadra, may be treated as the first work of Jaina tradition, *Prakrit Vyākaraṇa* (lost) by anonymous is in all probability, the earliest work of Śvetāmbara sect. Prakrit-Lakṣaṇa of Caṇḍa is probably the first extant work on Prakrit Grammar. However, According to French Scholar Luigia, Nitti- Dolci, the history of Prakrit grammar begins with Bharat's Nāṭyaśāstra.

### **(I) Texts on Prakrit grammar :**

**1. Prakrit Bhāṣā- Lakṣaṇa** of Bharat .In *Nāṭyaśāstra* Bharat describes characteristics of Prakrit, especially with regard to that to

be used in Sanskrit dramas. In 17<sup>th</sup> chapter of his *Nāṭyaśāstra* he has dealt with Prakrit in *gāthās* 1-63 or 1-64. In the first *gāthā*, he volits to explain the characteristics of Prakrit recitation. It is devoid of merits of refinement. In dramatic representation it is of three types: that is where words are the same as in Sanskrit (*samānaśabdām*), divergent (*vibhraṣṭām*) and of local usage (*deśīgataṁ*). Afterward he gives the example of the words of three kinds and phonetic changes that take place in Prakrit with regard to Sanskrit. To him Māgadhī, Āvantī, Prācyā, Śaurasenī, Ardhamāgadhī, Bāhlikā and *Dākṣiṇātyā* are well known languages. He also names Śākārī, Cāṇḍālī, Ābhīrī or Śābarī and Drāmiḍ. According to French Scholar Luigia, Nitti- Dolci, the history of **Prakrit** grammar too begins with **Bharat's Nāṭyaśāstra**. **Pub.** (The Prakrit Grammar of Bharat's *Nāṭyaśāstra*) the text with English translation. JDL, XXV, 1934, // The text in Roman with French trans. by Luigia, Nitti- Dolci, In: Less Grammmarian Prakrits, Paris 1938, pp. 64- 76. // Text in Roman with English translation, In: *Prakrit Grammarians* by Late Luigia Nitti Dolci (translated into English from French by Prabhakara Jha, Motilal Banarasidass, Delhi 1972, p. .12, 240, // P. L. Vaidya, *Bharatamunibaddham Prakrit Bhāṣāsvarūpam*, In: *Prakrit Grammar of Trivikrama*, Sholapur 1954. Appendix VII.

**2. Prakrit Lakṣaṇa** of Caṇḍa is a grammar of ancient (*Ārṣa*) Prakrit, in 99 sūtras (four chapters only). Differing from all other grammarians Caṇḍa begins with nominal and pronominal flexion. He treats the vowels in the second and the consonants in the third. Opinion regarding his time varies. To Hornele, he it is prior to Vararuci and Hemacandra i.e. earliest of the known Prakrit grammarians while Dr. Hiralal Jain dated him during 2<sup>nd</sup> to 3<sup>rd</sup> cent. CE). **Pub.** Ed. A. F. R. Hornle, Part I, Text with a critical introduction and indices, Bibliotheca Indica, Calcutta (now Kolakata) 1880. // ed. Rebati Kant Bhattacarya, Calcutta 1923. // Muni Sri Darśanavijaya, Shah Mafatalal Manikcand, Vīramgāma, Gujarat

1936. *Mss.* AK. 1224.1225; Baroda. 2861, 4141; BBRAS.83; Bd. 1391, 1392. Bikaner 5714, 5715; BL. 119; BORI.60 of 1873-74 (inc.); 257 of 1884-86. 1391 and 1392 of 1887-91, 1224 and 1225 of 1891-95, 225 of 1892- 95, 229 of 1902-7. BORI.D.II. .ii. 284, 285 (inc.); Delhi I. 40.V 363 (b); Jhalarpatan p. 30. Pannalal Bombay (now Mumbai) II. p. 53.V.P. 6.Pet. III. p. 393 (No. 257).

-*Vṛtti. Mss.* Moodbidri II. 523 (f).

-*Auto-comm. Mss.* BBRAS. 83.

**3. *Prakrit Prakāśa*** of Vararuci (CE 5<sup>th</sup> cent.) is the oldest Prakrit grammarian of Eastern School after Bharat. He may be credited to have moulded this popular dialect i.e. Prakrit into a system. His pioneer effort is followed by other grammarians, generally adding many more information gathered from literature or from their experiences. He is a mysterious figure in the terrain of Indian literature. His life- history is terribly shrouded in obscurity. The date of Vararuci varies from 56 BCE to the 7<sup>th</sup> century CE. He is, however, prior to 7<sup>th</sup> cent. CE as the Chinese Hiuanthsang, travelling India in the first half of the 7<sup>th</sup> cent. CE. According to Bloche Vararuci was not anterior to 5<sup>th</sup> cent. CE mentioned him. To P. D. Gune and A.B. Keith he belonged to 3<sup>rd</sup> cent. CE. Without going into details of the problem, it is better to take 3<sup>rd</sup> to 5<sup>th</sup> cent. CE as the date of Vararuci. (SR Banerjee)

*Prakrit Prakāśa* consists of 12 chapters (*paricchedas*). Its first nine chapters are devoted to Māhārāṣṭrī, 10<sup>th</sup> to Paiśācī, 11<sup>th</sup> to Māgadhī and 12<sup>th</sup> to Śaurasenī. Vararuci has not mentioned the name Māhārāṣṭrī, except the sūtra '*śeṣaṁ Mahārāṣṭrīvat* in the chapter of Śaurasenī, regarded by Cowell as later addition, since Bhāmaha has no commentary on it. However, there is no unanimity regarding its chapters. Some manuscripts contain 9 chapters, while in a few the content of 5<sup>th</sup> chapter is dealt into two, thus making the total 10 and Cowell's edition possesses 12 chapters. **Pub.** The text with the

commentary, *Manoramā* of Bhāmaha with notes, English translation, index of Prakrit words. A short introduction to Prakrit grammar by E.B. Cowell is also there. In *Prakrit Prakāśa*. 1<sup>st</sup> ed. Hertford 1854; 2<sup>nd</sup> Reprint edition, London 1868. 3<sup>rd</sup> ed. Punthi Pustaka, Calcutta 1962// . The text ed. Ramaśastri Telanga, Varanasi 1899. // The text ed. Revatikānt Bhattacharya, Calcutta, 1<sup>st</sup> ed. 1912. // Reprint ed. 1919 CE.// The text with commentaries *Kātyāyanī & Prakrit Mañjarī*, ed. Batukanath Sharma and Baldeva Upadhyaya, Nirnaya Sagar Press, Bombay 1915. // The text ed. with commentaries of Kātyāyana and Bhāmaha with Bengla translation, ed. Basant Kumar Chattopadhyaya, Calcutta 1914.//. The text with comm. *Manoramā* of Bhāmaha, ed. Udayarama Dabral, Varanasi 1920. // The text with commentaries of Vasantryaja and Sadananda, ed. Basant Kumar Sharma, Varanasi 1927. // The text with English translation, ed. P.L. Vaidya, Pune 1931. // The text with comm. *Manoramā* of Bhāmaha, ed. Udyotana Śastri, Varanasi 1940. // English translation of the text In: *Grammar of the Prakrit Language* by D. C. Sircar, University of Calcutta 1943. Revised and enlarged edition Varanasi 1970. // Text with commentary of *Rāmapañivāda*, Kunahana Raja, Madras 1946. // *Prakrit Prabodha* by Nemicandra Sastri (Varanasi 1965).//. The text with Gujarati translation, KV Trivedi, Navasāri, Gujarat, 1957. // Text with Hindi translation by Jagannath Shastri, Varanasi 1959. // // Text with comm. of Narayna Vidyavinoda, ed. S. R. Banerjee, Sanskrit Pustaka Bhandar, Calcutta 1975.

**Mss.** Adyar II. p. 872 (2 Mss.); Adyar D. VI.722, 724 (inc.). XIII. 1903 (inc.), 1904. Alwar 1156, 2470. America 2644, BORI. 293 and 294 of 1875-76, 92 of 1881-82 (10 chapters), 182 of 1882 883, 256 of 1884-86 (12 chapters), 512 of 1886- 92 , 660 of 1899 819 1915, BORI. D. II. ii. 273, 274 (12 chapters), 275, 276 (10 chapters), 277 (10 chapters); Govt Oriental Library Madras 55; Mysore ND X. 33955; Oxford 178b-179a (4 mss.); Pet. III.p. 393 (no. 256); Trav.University 466E, 540 A, 540B, 2984, 51 78, 5727A, 5727 B (inc.); Visvabharati 1516, 2203;



**Commentaries on *Prakrit- Prakāśa*:**

(1) ***Prakrit-Mañjari*** of Kātyāyana (date uncertain) in verse, comments upto ninth chapters only. According to Pischel, he must be from South India, but tradition places him in the Eastern region. Examples of this commentary tally with those of Bhāmaha. The latter having a few additional examples. **Pub.** With text and Bhāmaha commentary, ed. Basant Kumar Chattopadhyaya, Calcutta 1914. // With text, Batukanath Sharma and Baldeva Upadhyaya, Nirnaya Sagar Press, Bombay 1915.// **Mss.** Adyar II. p. 87b (2Mss.); Adyar D. VI.726, 727 (inc.), 728, 729, XIII. 1905 (inc.), Baroda 6586 (b); Burnell 43b; Govt Oriental Library Madras 55; Moodbidri (Script Kannada) No. 523.p. 27. Mysore ND X. 33969(inc.); Pannalal Bombay (now Mumbai) V.P.19; Sravanabelagola 86C; Trav.University 540 A, 5727 B (inc.); Udaipur II.168, 2(7); Visvabharati 1516, 2203;

(2) ***Manoramā*** of Bhāmaha (between 573 - 695 CE to 779-813 CE) belonging to Kaśmīra, is in prose, commented upto 11<sup>th</sup> chapter of *Prakritprakāśa*, i.e. it left the Śaurasenī dialect.

The commentary is sometimes very brief and unclear. However, it is quite helpful in many respects. Pischel identifies the author of *Kāvyaśālikāra*, with the commentator of *Prakrit Prakāśa*, but scholars conjecture the existence of several Bhāmahas in Indian literature. **Pub.** With text, notes, English translation and Index of Prakrit words, by E.B. Cowell, In: *Prakrit Prakāśa*. I<sup>st</sup> ed., Hertford 1854; 2<sup>nd</sup> Reprint edition, London 1868. 3<sup>rd</sup> ed. Punthi Pustaka, Calcutta 1962. // With text and commentary of Kātyāyana, ed. Basant Kumar Chattopadhyaya, Calcutta 1914. // With text, ed. Udyotana Śastri, Varanasi 1940.// With text, ed. Udagarama Dabral, Varanasi 1977. **Mss.** Adyar II. p. 87b (2mss.); Adyar D. IVI.723, 724 XIII. 1905 (inc.), Alwar 1156; America 2644; BIII. 16; Baroda 1831 (1); Bikaner 5711; Bombay University 82,83; BORI. 293 and 294(inc.) of 1875-76, 92 of 1881-82,124 of A1882-83; 182 of 1882 -83, 256

of 1884-86, 512 of 1886- 92 , 660 of 1899 δ1915, BORI. D. II. ii. 273- 278; Oxford 178b-179a (4mss.); Pet. III.p. 393 (no. 256); Trav.University2984;, Udaipur II.165,17 (inc.);

(3) ***Prakritsañjivani*** of Vasantaraja is the most exhaustive and elaborate commentary on this grammar, but only upto 8<sup>th</sup> chapter. (corresponding to the first 9 chapters of Cowell ed.). The age of Vasantarāj may be fixed as per the postulates of Pischel, last quarter of the 14<sup>th</sup> cent. CE to first half of the 15<sup>th</sup> cent. CE. **Pub.** With text and commentary of Sadananda, ed. Basant Kumar Sharma, Varanasi 1927. **Mss.** IO 941; MD 15489 (inc.) ; SB New DC. X 38827, 40 269 (inc.).

(4) ***Subodhini*** of Sadanand, commented *Prakrit Prakāśa* only upto 8<sup>th</sup> chapter (9<sup>th</sup> of Cowell ed.) like Vasantarāj, but shorter in comparison. Besides, his commentary on *Prakrit- Prakāśa*, nothing is known about his life, age and personal history.**Pub.** With text and commentary of Vasanttraja, ed. Basant Kumar Sharma, Varanasi 1927. **Mss.** I M. 5011 (inc.). Trav. University 51 78.

(5) ***Prakrit Pāda*** by Narayana Vidyāvinoda, **Mss.** Bodleian Library, Oxford, Asiatic Society, Calcutta, Vṛndaban Research Institute, Loi Bajar.

(6) ***Commentary*** by Rāmapaṇivāda (2<sup>nd</sup> and 3<sup>rd</sup> quarters of 18<sup>th</sup> cent. CE), commented only upto 8<sup>th</sup> chapters of the text i.e. excluding the portion related with *Paiśāchi*, *Māgadhī* and *Śaurasenī*. This commentary bears close resemblance with that of Bhāmaha. But there is difference in the division of chapters between the two. Bhāmaha has commented on two more chapters, excluded by Rāmapaṇivāda. The latter's commentary is more detailed than that of the former. **Pub.** With text, Kunnhana Raja, Madras 1946. **Mss.** Adyar D.VI.725; GD& 64; Trav. Univ. 5782 D(inc. ), 12816 (inc.).

(7) **Comm. *Udāharana*** by Kṛṣṇalīlāśuka. **Mss.** MT.5156 (b).

(8) *Vṛtti*) by Ramalabhacarya. **Mss.** Baroda 1533.

(9). **Comm.** in verese by Venkatesh. **Mss.** Pul.II. p. 86 (3 mss.; inc.)

**4. Prakrit Lakṣaṇa** of Namisādhu of the Western School is dated earlier than Hemacandra. His commentary (CE 1069) on *Kāvyaśālikāra* of Rudraṭa contains the features of Prakrit, particularly of Śaurasenī, Māgadhī, Paiśācī and Apabhraṃśa. Namisādhu has commented elaborately on two *gāthās* of Rudraṭa (11.11-12). These two *gāthās* are important as these depict the opposition between Apabhraṃśa, of which the number of dialects gets multiplied on account of the differences in the local tounges and the unique languages according to a fixed norm. It is also significant because of the honour accorded to Prakrit. **Pub.** ed. Durgaprasad & K.P. Parab, *Kāvyaśālikā* S. No. 2, Bombay (now Mumbai) 1911. // The text in Roman with French trans. by Luigia, Nitti Dolci, In: *Less Grammatical Prakrits*, Paris 1938, pp. 158-165. *The Prakrit Grammarians*, pp.166-173.

**5. Siddhahemaśabdānusāsana** by Hemacandra (1088 CE-1172 CE), the most important grammarian of the Western School, it treats of Prakrit grammar in 1119 sūtras, as a continuation of his Sanskrit grammar. Out of eight chapters, the last is devoted to Prakrit. This chapter is again sub-divided into four sections (*pādas*). The first quarter in 271 sūtras, deals with the treatment of vowels and consonants, while the second consisting of 218 sūtras deals with consonants: conjunct consonants, some suffixes, the Deśī words and indeclinable. In fact, these two sections are devoted to phonetics. The third section contains rules on morphology and to some extent on syntax i.e. rules of declension, rules of syntax, conjugation and participles. The fourth section gives the Prakrit substitutes for Sanskrit roots (*dhātuvādeśas*), and rules of the dialects, such as *Śaurasenī, Māgadhī, Paiśācī, Cūlikā-Paiśācī* and *Apabhraṃśa*. Thus, leaving aside *Ārṣa*, Hemacandra uses *Ārṣa* for Ardhamāgadhī. He

has systematically and methodically arranged the subject- matter with his auto-commentary.

**Comm.**(1) Auto-commentary (*Tattvaparakāśikā -Bṛhadvṛtti*),

(2) *Haimadīpikā* (*Prakritvṛtti-Dīpikā*) by Haribhadrasūri II, not extant.

(3)*Dīpikā* of Jinasagarasūri,

(4)*Haimaparakrit-ḍhuṇḍhikā or Vyutpatti-dīpikā* of Udayasaubhagyagaṇi, pupil of Saubhāgyasāgara, (CE 1534),

(5)*Prakritprabodha* (*Prakritvṛtti-ḍhuṇḍhikā*) Naracandra-sūri of Maladhari gaccha.

(6)*Prakritvyākṛti* (Padyavivṛti) of Vijaya-rajendrasūri.

(7) *Dodhakavṛtti* on *Apabhraṃśadohās*, occurred as illustrations.

(8) *Haimadodhakārtha on Apabhraṃśadohā* occurred as illustrations. **Pub.** The text, Bhaṭṭanatha Svāmin, Granthapradarśinī Series, Vizagapaṭṭanam 1912. // The text, ed. K.C. Ācārya, PTS, Varanasi 196 **Pub.** Text ed. R. Pischel, 'Hemacandra's Grammatik der Prakrit Sprachen (chapter VIII), two parts, Buchhandlung des Waisen Hauses: Halle 1877, 1880, pp. XIV 235 (1), VII 247. [The first part consists of original text with word index and the second one had the German translation with explanation and critical and comprehensive study]. // *Prakritvyākaraṇa* (Chapter VIII), ed. Muni Śri Yatindravijaya, Jaina Prabhakar Press, Ratlam 1915, p. 54. // ed. P.L. Vaidya, Arhatmataprabhakarā No.6, Hanuman Press, Pune 1928, 1936. [The text with index of words, roots and notes.] // *Prakrit Vyākaraṇam* (two parts)Trans. (Hindi) Upadhyaya Ratnamuni, Byavara 1963. [Hindi commentary of text & auto-comm. on the pattern of *Siddhānta Kaumudī*, word index]. // Trans. (Gujarati) Dulicanda Pitambaradas, Miyagama1904. // The text with *Ḍhuṇḍhikā*

*Ṭikā* ed. Bhimsingh Manek, Nirṇayasagar Press, Bombay 1903. // *Ṽṛtti* or *Prakāśikā*, Jñāna Dīpikā Press, Bombay 1872.// *Prakrit Vyākaraṇaṁ* (2 parts) comm. Jñānamuni, 25<sup>th</sup> Centenary of Mahavira Nirvana Committee, In: Atmarama Jain Model School, Kamala Nagara, 1974, p. 495, [the text, auto-commentary, Sanskrit commentary on the pattern of *Siddhānta Kaumudī*, summary in Hindi, appendices] // *Prakrit-vyākaraṇaṁ*, Muni Vajrasena, Atmanand Jain Text Series No.94, Jaina Atmanand Sabha, Bhavnagar 1980, p.48,452, [alphabetical index of Prakrit roots with their Sanskrit equivalents, alphabetical index of sūtras, of words with Sanskrit rendering, list of sūtras, text of *Dodhaka ṽṛtti* by anonymous, Prakrit declensions of word and roots. ]

**6. *Prakritakāmadhenu***, attributed to Lañkeśvara Rāvaṇa (according to some simply Rāvaṇa or only Lañkeśvara) is a small work on declensions etc. According to the author, a voluminous work on Prakrit grammar was composed by him and the present work is an abridged form of that extinct work. It treats of the rules of Prakrit grammar in 34 verses. It also deals with a few characteristics of Apabhraṁśa. **Mss.** Dacca University. 4179, List, Cal. 3157, 3158

**7. *Prakritśabdānuśāsana*** of Trivikramadeva (13<sup>th</sup> cent. CE), the son of Mallinātha, grandson of Ādityavarman and pupil of Arhannandī, composed his sūtras in conformity with Hemacandra. He discussed the characteristics of *Māhārāṣṭrī*, *Śaurasenī*, *Māgadhi*, *Paiśācī*, *Cūlikā*, *Paiśācī* and *Apabhraṁśa* but left *Ārṣa* or *Ardhamāgadhi*. In *Apabhraṁśa*, he added nothing new, except, the Sanskrit rendering in examples. In fact, he copied all the illustrations from Hemacandra with a few omissions.

His work, containing 1036 sūtras, is divided into three chapters (*adhyāyas*), each of which is again sub-divided into four sections (*pādas*). Trivikrama's contribution to the field of Prakrit studies is his Deśī words, dealt in six groups.

**Comm. 1. *Prakritśabdānuśāsana-Vṛtti***, an auto-commentary.

**Pub.** The text, ed. R. Pischel, *De Grammatik Prakrits.*// The text ed. T.K. Laddu, *Parelgamena zu Trivikrama Prakrit Grammatik*, Halle 1912. // Trans. (English) Ramanyasvami, ABORI (X) Pune 1930, pp.177-218. // Trivikrama *sūtrapāṭha* (metrical) Bhaṭṭanāthasvamin. // Text ed. Jagannathasastri, Chowkhambā Sanskrit Series, Benares 1950.//Text ed. P.L. Vaidya, Jaina Sanskṛti Saṁrakṣaka Saṅgha, Sholapur 1954. **Mss.** Adyar II.p. 87 b (2mss.); Adyar D. VI. 732-34; Baroda 1507 (c) (inc.); Baroda 1507 (c) (inc.); Govt.Or. Lib. Madras 33; Mysore I. p.327; Oppert. I.3427, 6054, 7998; Bombay IV. P.7; Trav. Uni. 540C, 5077, 10649.,

**8. *Karṇāṭaka-Śabdānuśāsana***, of Bhaṭṭa Akalaṅka, a Digambar Ācārya, in 1604 CE.

**Comm.(1) *Karṇāṭaka-Śabdānuśāsana-Bhāṣāmañjarī*** by anonymous.

**(2) *Karṇāṭaka-Śabdānuśāsana-Mañjarī makaranda*** by anonymous.

**9. *Prakrit-Kalpataru*** of Rāmaśarman (Rāmatarkavāgīśa) follows the grammar of Puruṣottama. It has three chapters (*śākhā*), which are again sub-divided into fifteen clusters (*stavabas*). Each cluster comprises again of several stanzas called flowers (*kusuma*). In nine *clusters* of the first chapter, the general characteristic features of Māhārāṣṭri are dealt, dividing into vowel (*ac*), consonant (*hal*), conjunct (*yukta*), double (*dvitva*), conjugation (*sandhi*), root suffixes (*tiñ*), root substitutes (*dhātvādeśa*) and indeclinables (*nipātas*). In the three clusters of 2<sup>nd</sup> chapter dialects Śauraseni, Prācyā, Āvanti, Bāhlikī, Māgadhī, Ardhamāgadhī and Dakṣiṇātyā are treated. The first two clusters of the third chapter, describe in addition to Nāgara, Vrācaḍa and Upanāgara, a number of minor dialects. The last cluster is entirely devoted to Paiśācī with its varieties. Ramaśarmaṇa refers to various kinds of Apabhraṁśa, classified according to the use of

the deśya (underivable) words current in each region in which it is spoken.

Besides, Prakrit grammar, he wrote commentaries on the *Uṇādikośa*, *Kāvyaśandīpa* and *Mugdhāvabodha*. Grierson dated him not later than 16<sup>th</sup> cent. CE. He might have flourished between 12<sup>th</sup> and 16<sup>th</sup> cent.

**Commentary**, an auto-commentary contains numerous quotations mainly on the various exploits of Radha Kṛṣṇa which show that there existed a number of Prakrit poems from the episodes of this legend, current in mediaeval Bengal. **Pub.** Text in part, ed. G.A. Grierson, Asiatic Society of Bengal No. 8, Calcutta 1924.// The text (1-9 without 8) by L. Nitti Dolci, ed. de la Premier Śakhā du Prakrit Kalpataru des Rāmaśarman, Paris 1939. By M. Ghoṣa, The Asiatic Society, Calcutta 1954.// **Mss.** IO 946.

**10. Saṁkṣiptaśāstra** of Kramdīśvara, with epithet *Vādīndracakracūḍāmāṇi*, i.e. 'Crest jewel of the circle of great disputants', belonged to a place identified with modern Burdwan division. Very scanty record pertaining to him and his date is available. He is generally placed between Hemacandra (1088 CE-1172 CE) and Bopadeva (CE 1250) or after the latter, hence flourished between 10<sup>th</sup> to 11<sup>th</sup> centuries.

Prakrit grammar of Kramdīśvara is appended to his Sanskrit grammar *Saṁkṣiptaśāstra*. His work is divided into five sections: treatment of vowels (*svarakāryam*), consonants (*halkāryam*), word declensions (*subantakāryam*), verbs (*tiñantakāryam*) and treatment of Apabhraṁśa (*Apabhraṁśārambhah*). Kramdīśvara has not discussed in detail, the rules of Prakrit like later writers, but he has nicely recorded the main characteristic features of Prakrit language current during his time.

Though short his grammar is significant, as he has for the first time discussed a number of dialects and sub-dialects of Prakrit including Apabhraṁśa, some of which really represent the Eastern variety of language.

**Comm.** Kumaranandi and Goyicandra are ascribed the authorship of two commentaries (*vṛtti*) on both Sanskrit and Prakrit portion of his grammar. That by Goyicandra was an elaborate commentary (both not available). The only commentary available is the *Prakritpāda* of Candidevaśarmā. The two editions of this commentary are available. One published by Rajendra Lal Mitra and other published from Kolakata in 1989.

**11. Prakrit Sarvasva** by Markaṇḍeya (CE 17<sup>th</sup> cent.) written in 20 chapters in verse with a prose commentary followed by illustrations, is very much similar to the grammar of Puruṣottama, particularly in the sections on the dialects of other than Māhāraṣṭri. His personal history is totally obscure.

His work mentions the name of Śākalya, Kohala, Bharata, Vararuci, Bhāmaha and Vasantarāja as his authorities. He furnished some additional characteristic features of Śaurasenī, normally absent in other grammatical works. After classifying Prakrit into three categories: *Tatsama*, *Tadbhava* and *Deśya*, sub-divides *Tadbhava*, again into four classes: *Bhāṣā*, *Vibhāṣā*, *Apabhraṁśa* and *Paiśācī*. *Bhāṣās* include Māhāraṣṭri, Śaurasenī, Prācyā, Avantī and Māgadhi excluding Ardhamāgadhi, Dākṣiṇātyā and Bāhlikī. *Vibhāṣā*, includes Śakāri, Cāṇḍālī, Śabarī, Ābhirakā and Ṭakkī. He denies Odrī and Drāviḍī. He describes only three kinds of Apabhraṁśa: Nāgara, Vrācaḍa and Upanāgara.

For treatment of Eastern Prakrit dialects this work supplies significant material.

**Pub.** by S.P. Bhaṭṭanathasvami, Grantha Pāradarśinī Series No. 3, Vizagapatnam, The Ārṣa Company, Book-selling Dept.1912,1927./ / K.C. Ācārya, Prakrit Text Society, Varanasi1968. **Mss.** IO. 5130; MD 15662; Oppert I. 8107;Oxford 181a;

**12. Prakrit Maṇideepa or Maṇidīpikā** of Appayadīxit III,(flourished 1553), patronised by Cinnabommabhūpāla, is a short



compilation based on early works. It is also considered as a commentary on the sūtras of Vālmīki with a gloss. **Pub.** T.T. Srinivāsagopālācāra, Oriental Research Institute Mysore, 1953, p.364. **Mss.** Hz. 265; Extr.67; MD 16861; Mysore I. p. 327; Skt. Coll. Mys. p.7.

**13. Prakri Rūpāvatāra** of Simharāja (15<sup>th</sup> cent.), son of Samudravandheyas of Western School, divided his Prakrit work containing 1063 sūtras, into technical terms (*sañjñā*), convention (*paribhāṣā*), *samhitā*, word declensions (*subanta*), root declensions (*tiñnanta*) and dialects *Śaurasenī* etc. It may be called a counterpart of the *Laghukaumudī* of Varadaraj. The author undertook an independent arrangement of the rules, drawing on the same collection of sūtras, which in their original sequence, are known to have been commented on by Trivikrama. It is an important treaty for the knowledge of the declension and conjugation, chiefly because Simharaja quotes more than Hemacandra and Trivikrama. The work is divided into XXII chapters. **Pub.** by E. Hultzsch, Royal Asiatic Society, Prize Publication Fund No. 1. London 1909. **Mss.** Adyar D. VI. 731; Pul. II. p. 85; Trav. Uni. 155 (inc.) 500, 5118; Wish 154.

**14. Prakritānanda** of Raghunātha Śarman (18<sup>th</sup> cent.), contains 419 sūtras. It treats of words and roots in two sections (*paricchēdas*) respectively. It presents a short form of *Prakrit Prakāśa* of Vararuci. **Pub.** ed. Jinavijaya muni, Rajasthan Puratana Śāstra Sañgraha, Rajasthana Oriental Research Institute, Jodhpur, 1954. **Mss.** Lahore 6; Proceed ASB 1880, Radh 38; (NCC .XIII, p. 143).

**15. Prakritānuśāsana** by Puruṣottama (1265 CE), the best representative Prakrit grammarain of the Eastern School. He forms the triad with Rāmatarkavāgīśa and Markaṇḍeya. Very little is known about his life and personal history. It contains a curious farrago of dialects, which renders that work a mine of interesting forms of Prakrit. The Prakrit dialects described by him are Māhārāṣṭrī (upto

chapters eight, and Śaurasēnī, Prācyā, Āvantī, Māgadhī, Śākāri, Cāṇḍālī, Śābarī. Ṭakkī, Nāgaraka Apabhraṁśa, Vrācāḍa etc. Apabhraṁśas, Kaikeya Paiśācika, Śaurasēnī and other Paiśācikas, in next 9 chapters, respectively. **Pub.** Le *Prākṛtānuśāsanam* of *Puruṣottam*, ed. Luigia Nitti-Dolci, Carriens de la Societe Asiatique, Paris, 1938. VI, pp. XXVII, 141.// The text in part (only ch. IX-XX) in Devanāgarī with English translation by D.C. Sircar, In: *A Grammar of the Prakṛti Language*, Calcutta 1943, pp. 106-120.// Rep. In Devanāgarī script by M.Ghoṣh in the Appendix I, pp. 156-69 to his edition of Rāmaśarman's *Prakṛit Kalpataru*, Calcutta 1954.

**16. Prakṛit - Lakṣaṇa** of Sīmhadevagaṇi, ed. Kedar Nath Śāstri, In: *Vāgbhaṭālaṅkāra* commentary II. 2-3 Kāvyaṁālā 48, Bombay<sup>3rd</sup> ed. 1916.

**17. Prakṛit - Lakṣaṇa** in *Viṣṇudharmottara-purāṇa*, ed. by M. Ghosh. In: *Prakṛit -Kalpataru*, Appendix IV, Calcutta 1954.

**18. Prakṛit - Vyākaraṇa** (*Sūtrapāṭha* only) of Trivikrama- Bhaṭṭa Nāthasvami, contains 1085 sūtras. The work is divided into 12 sections (*pādas*) grouped into three chapters (*adhyāyas*). As regards the content of this grammar, it is a metrical reproduction of the grammar of Hemacandra. The technical terms are different because Trivikram adopted certain symbols of the Paṇinian type, At some places the original order of Hemacandra is slightly changed but that has always been done for metrical reasons.

Examples are also taken from Hemacandra in most cases. Trivikrama has added Sanskrit rendering, **Pub.** Grantha Pāradaśinī Series, pp. 1-28.// by Jaganntha Śāstri, Chowkhamba Sanskrit Series, Benares 1950 AD.// P.L. Vaidya, Jaina Sanskriti Saṁrakṣaka Saṅgha, Sholapur 1954.

**19. Prakṛitvyākaraṇa or Prakṛitpāda** by Narayaṇa Vidyāvinodācārya or Narayaṇa Pañcānana also referred to as commentary on Prakrit chapters of *Sankṣiptasāra* of Kramadīśvara

(NCC .X, p. 74). However, taken to be an independent exposition. (NCC. XIII, p. 134).

**20. Prakritādiṣaḍbhāṣāvyākaraṇa, Mss.** Ānandāśarma, 3598, 7130. Pāliyam 940 (b);

- **Comm.** (*Vṛtti*) **Mss.** Kamakoti 12/16, Pāliyam 912 (b). (NCC .XIII,p. 142)

**21. PrakritCandrikā,** grammar, **Mss.** Baroda 4139 (inc.); Chani 1097; Gough, p. 212 (metrical); Radh 38.

**22. Audāryacintāmaṇi** (CE 1518) a grammar of Śrutasaḡara, a Digambar Jain, pupil of Vidyanandin and grand pupil of Devendrakīrti. Containing six chapters, it is based on Hemacandra's work. According to some it is a commentary (JRK.p. 68-69). **Pub.** First three chapters only from Vizagapatanam. **Mss.** Alphabetical list Beng. Govt. p. 22; CPB. 7054; RASB.VI. 4627.

**23. Cintāmaṇi -Vyākaraṇa** by Śubhacandrasūri, a Digambar Ācārya, according to colophon of his *Pāṇḍavapurāṇa*. It consists of 1224 sūtras, divided into three chapters (*adhyāyas*), with four sections each. MT 2770. (vide. ABORI,XIII. p. 46).

-**Comm.** *Cintāmaṇi-Vyākaraṇa-vṛtti*, an auto-commentary by Śubhacandra. **Mss.** Sravaṇabelagola 250; (NCC .VII.p. 57).

**24. PrakritCandrikā,** grammar in metres by Kṛṣṇaśeṣa or Śeṣakṛṣṇa, on the model of his *Pādacandrikā*. It consists of nine chapters (*prakāśas*). It is written for beginners. It gives general rules of Prakrit, non- conjunct (*asamyukta*), conjunct (*samyukta*) consonants, adverbs, declensions of words, numerals, roots, kṛdanta and various dialects, respectively. It is based on grammar of Hemacandra and Trivikrama. **Pub.** Subhadra Upadhyaya, Amar Publication, Varanasi 1969. **Mss.** BORI. 255 of 1884- 86;, 243 of 1895-98, BORI .D II. ii. 271,272, IO 945; Pet. III. p. 393 (no. 255); (vide. NCC XIII, p. 133)

**Comm. Prakritdīpikā** a comm. by anonymous on *Prakrit Candrikā* of Śeṣakṛṣṇa. *Mss.* Pul. II. p. 85 (2 mss. (inc.))

**25. Prakritcandrikā**, grammar by (Kāraṅjakavisārabhauma) by Vāmanācārya, mentioned in commentary on *Piṅgalachandas*, *Mss.* L. 1608; Oxf. 197a.

**26. Prakritcintāmāni** by anonymous (NCC. XII, p. 133).

**27. Prakritdīpikā**, or *Prakritprabodha* by Naracandrasūri, on declension and conjugation of words in the 8<sup>th</sup> chapter of *Śabdānuśāsana* of Hemacandra. *Mss.* BORI .8 of 1877- 78, D. p. 124. Pattan I.p. 88; Pet. p. 127 (no. 300);(vide. NCC IX, p. 352b).

**28. Prakrit Pradīpikā** by Caṇḍidevaśaraman. *Mss.* Mysore I. p. 327, Radh .38,

**29. Prakrit Pradīpikā** by Narasimha, **Pub.** In: *Granthapradrśīni* .Vide. CC. II. p. 81a. (vide. NCC XIII p.138).

**30. Prakritbhāṣāntaravidhāna** by Candra, *Mss.* Buhler 556.

### (II) Works on the Part of Prakrit Grammar:

**1. Prakrit Dhātupāṭha**, by anonymous, *Mss.* Mysore, ND. X 33945. (NCC. XIII, p. 134).

**2. Prakritpadāni**, by anonymous. TD 59 43 (inc.) .(NCC. XII,p. 133).

**3. Prakritśabdamañjarī** by Nārayaṇacārya, *Mss.* Warangal 8. (NCC. XIII, p. 141)

**4. Prakrit-Śabdārūpāvalī** of Pratapavijaya, paradigms of Prakrit grammar, explained in Sanskrit, **Pub.** Ahmedabad 1912, p. VIII, 248. *Mss.* Mysore NDX. 33949 (inc.), 33950. (NCC .XIII,p. 141)

**5. Prakritsiddharūpa**, *Mss.* Trav.Uni. 4246 (inc.) (NCC. XIII, p. 142)

6. *Prākṛitākārādīśabdamāñjarī*, Mss. Adyar PL .p.156. (NCC. XIII,p. 143).

7. *Subhāṣa- Candrikā* of Lakṣmīdhara (c. middle of 14<sup>th</sup> cent.), is for the grammar of Trivikrama, what *Siddhānta Kaumudī* is for the Aṣṭādhyāyī of Pāṇini. **Pub.** Rao Bahadur Kamalashankar Pranashankar Trivedi, Bombay Sanskrit & Prakrit Series No.71, Bombay 1936.

8. *Saṁkṣiptasāre Prakṛtādhyāya* of Karamadīśvara., ed. by S.R.Banerjee, **Pub.** Prakrit Text Society, Ahmedabad 1976.

9. *Hariṇāmāmṛte Prakṛtapāda* ed. by S.R.Banerjee, Bulletin of the Calcutta Philological Society, IV,1963, pp.10-31.

10. *Prakṛitpadayavyākaraṇa* by anonymous,

11. *Prakṛit Pāṭhamālā* of Muni Ratnacandra.

### (III) Modern works on Prakrit Grammar :

1. *Grammar of Prakrit language* (English), by Dineśacandra Sircar, is based, mainly on the Pāli, Prakrit epigraphs and on the works of medieval Prakrit grammarians such as Vararuci, Kātyāyana, Bhāmaha, Hemacandra, Puruṣottama and others, The work is divided into 12 chapters. The chapters 1-9 describe the grammatical structure of Māhārāṣṭrī. The chapters 10-12 deal with Paiśācī, Māgadhī and Śaurasenī dilects, respectively. The minor Prakrit dialects described by Puruṣottama in the *Prakṛtānuśāsana* and by Hemacandra in the *Siddhahema Śabdānuśāsana* are discussed in the appendix. It also contained introduction, notes, index and glossary. **Pub.** University of Calcutta, Calcutta 1943, p.10, 126, Motilal Banarasidass, Delhi, Ed. 2<sup>nd</sup> 1970, p.10,176,

2. *Les Grammarians Prakrits* by Luigia Nitti Dolci, contains the notable contribution of the author in identifying the original work of Vararuci from the chapters added later on. On convincing reasons he showed that the last three chapters of the *Prakṛitprakāśa* were interpolated by later authors. The author brought together materials from three

principal commentators of *Prakrit Prakāśa*, helpful in reconstructing the first eight chapters of the work, written by Vararuci. The reconstructed text may bring about some changes in the current view about Māhārāṣṭrī Prakrit. The author also ventured to explore the works on the language of which Vararuci might have based his grammar. The author collected sufficient data to show that the grammarians in all likelihood had before him some recension of Hala's *Saptaśatakaṃ*. **Pub.** Adrien- Maisonneuve, Paris 1938, pp. ix+ 229.

**3. *Prakrit Grammarians*** by Late Luigia Nitti Dolci (translated into English from French by Prabhakara Jha), deals with the special features of the works of Vararuci, Bharat, Puruṣottama, Mārkaṇḍeya, Kramadīśvara, Hemacandra, Namisādhu, Trivikrama, Vālmīki, and Caṇḍa, especially regarding their treatment of sub-dialects. **Pub.** Motilal Banarasidass, Delhi 1972, p.12, 240,

**4. *Introduction to Prakrit*** (English) by A. C. Woolner, divided into two parts, deals with the three periods of the Indo - Āryan language, the three stages of the Middle period, the literary and spoken Prakrits, their classification and characteristics, general features, phonetics, their system of single consonants, compound consonants, vowels, *sandhi*, declension, conjugation, classification of Prakrit languages and their history of literature in the first part. The second part consists of a number of extracts from Sanskrit and Prakrit literature which illustrate different types of Prakrit dialects- Śaurasenī, Māhārāṣṭrī, Māgadhī, Ardhmāgadhī, Avantī, Apabhraṃśa etc. most of which are translated into English. The book contains valuable information on the phonetics and grammar of the Dramatic Prakrits- Śaurasenī and Māhārāṣṭrī. It contains indices also. **Pub.** Motilal Banarasidass, Delhi 1972, p.12, 240,

**5. *Prakrit Praveśikā***, is Hindi translation of A C Woolner's *Introduction to Prakrit*, **Pub.** Munshiram Manohar Lal Oriental Publishers, Delhi 1968,

**6. *Prakrit Vyākaraṇa*** (Hindi) Madhusudan Prasad Miśra, containing 11 chapters, presents the characteristic features of Māhāraṣṭrī in first 7 chapters and peculiarities of Śauaraseṇī, Magadhi, Paiisācī and Apabhraṃśa from Māhāraṣṭrī, in remaining chapters. Alphabetical index of Prakrit words. **Pub.** Chowkhamba Vidyabhavana, Varanasi, 1960. p.298

**7. *Eastern School of Prakrit Grammarians*** by Satya Rañjana Banerjee, attempts to present study of Prakrit grammarians, divided into Eastern and Western school and their respective linguistic features. The work divided into three parts, treats the Prakrit grammarians of Eastern School together with a bird's eye view of the Western school in the first part. The second part treats of the linguistic traits, peculiar to the Eastern School and the characteristic features of Prakrit dialects and sub-dialects, based on the texts of Puruṣottama, Ramaśarman and Mārkaṇḍeya are given. The last part contains six appendices. The edited text of Bharat, Puruṣottama etc. have been included. **Pub.** Vidyasagara Pustaka Mandira, Calcutta 1977, p.5, 104,

**8. *Prakrit Bhāṣano Kā Rūpa Darśana*** (Hindi) by Narendra Nath Ācārya, is a study of Prakrit language, based on *Prakrit Prakāśa* of Vararuci. Divided into 9 chapters, it deals with different versions of origin of Prakrit dialects and sub-dialects of Prakrit. It treats mainly with grammatical analysis of about 1000 Prakrit words, occurring in *Prakrit Prakāśa* of Vararuci, in alphabetical order. It contains sūtras of *Prakrit Prakāśa* with its Hindi translation. **Pub.** Rama Prakashan, Lucknow 1963, p. 242.

**9. *Prakrit Mārgopadeśikā***, (Gujarati) Becharadas Doshi, **Pub.** Gurjara Grantha Ratna Kāryalya Ahmedabad, 1958 CE.

**10. *Prakrit Mārgopadeśikā*** (Hindi), Becharadas Doshi, trans. into Hindi by Sadhvi Subrata from Gujarati, **Pub.** Motilal Banarasidas, Delhi 1968,

11. **Prakrit Vimarsā** by Sarayu Prasad Agrawal contains two sections: elementary grammar and selections. On the basis of introduction of R.Pischel's grammar, it gives genesis of various dialects of Prakrit, their features, phonetics; morphology etc. The selected portion includes those pertaining to Māhārāṣṭrī, Jaina Māhārāṣṭrī, Śaurasenī, Jaina Śaurasenī, Māgadhī, Ardhamāgadhī and from texts Prakrit *Dhammapada* and Aśokan Inscriptions. **Pub.** 1<sup>st</sup>. Ed. Lucknow University, 1953, // Viśvavidyalaya Hindi Prakaśana, University of Lucknow, 1968, p.143, 116,13,

12. **Prakrit Praveśikā** by Komal Chanda Jain, divided into two sections: Elementary grammar and selections. Grammar portion adopts Mahārāṣṭrī, as dealt in Vararuci as its model. Variations from Māhārāṣṭrī, in other dialects have been provided prior to the specimens of every other Prakrit. The collection of extracts aim to show the different dialects of Prakrit as they grow through the ages. Every passage or verse is followed by its Sanskrit rendering. **Pub.**, Tara Publications, Varanasi 1971 ,p. 214,

13. **First Book of Prakrit**, (English) by AT. Upadhye is an elementary grammar of Prakrit, through 34 lessons, designed for Matriculation standard. **Pub.**Kolhapur 1959, p.240,

14. **Prakrit Bhāṣā Praveśa** (Marathi) by AT Upadhye, is the Marathi translation of above mentioned work. **Pub.** J B Upadhye, Nandani Kolhapur.

15. **Prakrit Bhāṣā**, (Hindi) by Prabodha Bechar Paṇḍit, is a collection of three lectures of the author's *On the role of Prakrit in evolution of Vernacular Indian languages*; a historical perspective, ancient dialects and sub-dialects of Prakrit and lastly, subsequent evolution of Prakrit. **Pub.** Jaina Sanskrī Sanśodhana Maṇḍala, Varanasi 1954, p.58,

16. **Abhinava Prakrit Vyākaraṇa** by Nemicandra Shastri, intends to present grammar of Prakrit following the pattern of *Siddhānta*



*Kaumudī* of Bhaṭṭojī Dixit. Divided into eleven chapters, it also has sixteen appendices listing Prakrit words in alphabetical order, occurred as examples (1), formation of feminine words with use of feminine suffixes (2), adverbs and words formed with combination of adverbs (3), words illustrating use of cases, (4), compound words (*samāsa*) (5), secondary suffixes (*taddhitānta*) (6), secondary roots formed with affix *yañ*, formed with *yañlug*, denominative roots (*nāmadhātu*) (7), primary suffixes (*kṛdanta*) (8), Śaurasenī terms (9), Jaina Śaurasenī terms (10), Māgadhī terms (11), *Ardhamāgadhī terms* (12), Jaina Māhārāṣṭrī terms (13), Paiśācī terms (14), Cūlikā Paiśācī terms (15) and Apabhraṃśa terms (16). **Pub.** Tara Publications, Varanasi, 1963, p.24,532.

**17. Prakrit Prabodha**, (Hindi) by Nemicandra Shastri, is an introduction to the Prakrit language, composition, and translation with examples. This work encompasses all the rules needed for translation and composition. It also contains selections from different Prakrit texts. **Pub.** Chowkhamba Vidya Bhavana, Sanskrit Text Series No. 130, Varanasi 1965, p.258,

**18. Prakrit Dipikā**, (Hindi) by Sudarśana Lal Jain, divided into three sections, it provides the grammar of Prakrit, translation from Hindi to Prakrit and vice versa. It also has collections from texts representing major dialects with Hindi translation. **Pub.** Parshvanath Vidyāśrama Śodha Sansthana (Now Parśvanath Vidyapeeth) Varanasi 1983, p.272.

31. Prakrit Śabdānuśāsana , Jivaraja Gautama,

**19. Prakrit Cintamani**, (Sanskrit) by Stahanakavasi saint Muni Ghasilalji, is an elementary grammar of Prakrit-Māhārāṣṭrī, Saurasenī, Apabhraṃśa etc. with commentaries *Kaumudī* (Sanskrit) and *Tattvadīpikā* in Hindi. **Pub.** Acarya Sri Ghasilalji Maharaj Sahitya Prakasana Samiti, Indore 1987, p. 108,

**20. Prakrit Kaumudī** (Sanskrit) by Stahanakavasi saint Muni Ghasilalji, in five chapters, is based on the grammar of Hemacandra.

It also has commentary *Kaumudī* in Sanskrit and *Tattva-Dīpikā* in Hindi. **Pub.** Acarya Sri Ghasilalji Maharaj Sahitya Prakasana Samiti, Indore 1988, p. 358,

(IV) Works on Comparative Grammar:

1. ***Comparative Grammar of the Prakrit Languages***, R. Pischel, trans. from German into English by Subhadra Jha, is one of the most popular, comparative and comprehensive study, on Prakrit grammar. This monumental work was originally written in German. It provides an introduction of Prakrit languages and their grammarains, a comparative study of phonetics, morphology, word formation and compounds. It also contains general index and glossary. **Pub.** Motilal Banarasidass, Varanasi 1957, p.437.
2. ***Prakrit Bhāṣāon Kā Vyākaraṇa*** is Hindi translation of *Comparative Grammar of the Prakrit Languages* of R.Pischel by Hemacandra Joshi, Bihar Rāstrabhaṣa, Pariṣad, Patna.
3. ***Tulanātmaka Pāli, Prakrit, Apabhraṁśa Vyākaraṇa***, (Hindi) trans. by Mahavira Prasad Lakhera, of the English title *A Comparative Grammar of Middle Indo Aryan* of Dr Sukumar Sen, is the only work dealing with all the middle Indo-Aryan dialects. It treats, comparatively, of the grammar of Prakrit of Aśokan inscription, inscriptions of Ceylone, dramas of Aśvaghoṣa, Niya and Gandharī, Buddhist hybrid Sanskrit, Pali, *Māhārāṣṭrī*, *Ardhamāgadhī*, *Śaurasenī*, *Māgadhī*, *Prācyā*, *Āvantī*, *Śākārī*, *Ṭakkī(Dhakkī)*, *Nāgaraka*, *Vrācaḍaka*, *Upanāgarka*, *Kaikaya*, *Paiśācika*, *Avahaṭṭhī* and *Cūlikā-Paiśācī*. It deals with phonetics, declension, suffixes and compounds. **Pub.** Lokabharati Prakasana, 15-A , Mahatma Gandhi Marga, Allahabad 1969 ,p. 216,(49/H44).
4. ***Sanskrit Rūpaka Aura Prakrit*** (Hindi) by Dr. Maheśvara Prasad Singh , deals in five chapters with form of dramas, minor dramas in Sanskrit, introduction of prominent Sanskrit and Prakrit works, the prescribed rules regarding the dialects spoken by particular

characters, analytical study of Prakrit used in Sanskrit dramatic works and evolution of Prakrit as used in the dramas through the ages. **Pub.** Aditya Book Center ,165D, Kamla Nagar, Delhi -7 ,1997, p. (49/H 197).

**5. Prakrit Bhāṣāno Kā Tulanātmaka Vyākaraṇa Aura Unamne Prāk Sanskrit Tattva** by K. R. Chandra, Prakrit Vidya Maṇḍala, L.D. Institute of Indology, Ahmedabad 1982. p. 90.

### (V) Works on the Dialects of Prakrit

#### a. Apabhraṁśa:

Literary sources reveal that by the time of Daṇḍin, Apabhraṁśa was no longer a rustic dialect but an established third literary language along with Sanskrit and Prakrit. Apabhraṁśa in its various forms, gradually developed into a full-fledged written language and it was thought necessary by Prakrit grammarians to deal with it grammatically, because it was considered to be a branch of Prakrit. During the classical and medieval periods, Prakrit grammarians treated Apabhraṁśa in specific chapters or sections in their treatises also. The Apabhraṁśa sections were not written in Apabhraṁśa or Prakrit but in Sanskrit. Significantly, the oldest extant works on Prakrit grammar, Vararuci's *Prakrit Prakāśa*, does not take any notice of Apabhraṁśa. Hemacandra (11<sup>th</sup> cent. CE) extensively deals with this language. His Apabhraṁśa section, like other parts of the grammar, is written in sūtra and with fresh examples in verses. To illustrate the rules of this section Hemacandra has also composed the Apabhraṁśa verses in the 8<sup>th</sup> canto of his *Kumārapālacarita*, also known as *Dvayāśrayakāvya*. The next important grammar of this language is *Prakrit Śabdānuśāsana* of Trivikramadeva. The Apabhraṁśa, described in his Grammar is Nāgara. Mārkaṇḍeya (16<sup>th</sup> cent. CE) in his *Prakrit Sarvasva*, deals with Nāgara. According to him an anonymous author mentions 27 kinds of Apabhraṁśa which all may be included into Nāgara Vrācaḍa and Upanāgara only. Next,

treatment of Apabhraṁśa in Caṇḍa's *Prakrit Lakṣaṇa* is not significant. Kramadīśvara's Sanskrit Grammar *Saṅkṣiptasāra*, *Puruṣottama's Prakritānuśāsana* and Rāmatarkavāgīśa's *Prakritkalpataru* deal with Apabhraṁśa as well. Some of the modern works dealing with Apabhraṁśa are as follows-

1. ***Prakrit Vyākaraṇa*** contains sūtras of the eighth chapter of Hemacandra's *Siddhahema Vyākaraṇa* on Apabhraṁśa with Sanskrit rendering. **Pub.** Ācārya Jinakṛpacandrasūri, Nirṇayasagar Press, Mumbai 1918, p. 243.

2. ***Apabhraṁśa Studien***, Luḍwig's Alsdorf, Leipzig 1937.

3. ***Historical Grammars of Apabhraṁśa*** (English) by Gajanana Vasudeva Tagare is a chronological study of nearly all the edited Apabhraṁśa texts available upto 1945. The Apabhraṁśa texts were classified according to the place of their composition and the linguistic data was arranged in a chronological sequence and thus the space-time context of each form was determined. The texts were regionally grouped as: (1) Western Apabhraṁśa, the area of present-day Gujarati, Hindi and Rajasthani dialects; (2) Southern Apabhraṁśa, roughly Marathi speaking area and its adjoining districts; (3) and Eastern Apabhraṁśa, the area of modern Bengali, Bihar and Oriya. No text representing Northern Apabhraṁśa belonging to this period was then available. After illuminating the term Apabhraṁśa and fixing its period and classifying the texts in their space-time context, the author offers a general conspectus of the phonological and morphological features of Apabhraṁśa in the introduction. Then follow sections on phonology, declension, conjugation, nominal stemformation according to diachronic method connecting the evolved linguistic features to its modern descendant wherever possible. The work ends with an index verborum which lists all the words occurring in study with their Sanskrit and Prakrit etymologies as well as references to their cognates in the modern Indo-Aryan. In fact, the work presents the history of Indo-Aryan during CE 500-1200. **Pub.**

Deccan College Post Graduate College & Research Institute, Pune 1948, p. 38,342.// 2nd edition, Motilal Banarasidass, Delhi 1987, p. 16, 454.

**4. *Apabhraṁśa Prakāśa*** (Hindi) by Dr. Devendra Kumar treats, in brief, the historical evolution of Apabhraṁśa language and its grammar. It appends the account of Ācārya Devasena, Puṣpadanta, Muni Ramasingh, Muni Kanakāmara, Ācārya Hemacandra, Somaprabha etc. **Pub.** G.P.Varṇi Digambar Śodha Sansthāna, Varanasi 1950, p. 235,

**5. *Siddhahema Apabhraṁśa***, text of the relevant portion of eighth chapter of Hemacandra grammar. **Pub.** Carutara Pravacana, Vallabha Vidyānagar, 1956, p. 78.

**6. *Apabhraṁśa Vyākaraṇa***, ed. by HC Bhayani, contains portion occurred in the eighth chapter of Hemacandra's *Siddhahema Vyākaraṇa* on Apabhraṁśa. Alongwith, scholarly introduction, the edition includes Gujarati word meaning, Sanskrit equivalents, Gujarati translation, notes and alphabetical index of words. **Pub.** Forbes Gujarati Sabha S No. 66. Vitthalbhai Patel Marg, Bombay, 4th ed. 1960, p. 50, 192.

**7. *Apabhraṁśa Vyākaraṇa***, (Hindi) Śaligrama Upadhyaya, deals with Apabhraṁśa grammar of Hemacandra (*Śabdānuśāsana*), with an exhaustive introduction and Hind translation of the relevant text, commentary and examples. The introduction deals with features of Apabhraṁśa grammar of Hemacandra, literary evaluation of examples quoted therein, sources of these examples and introduction of selected works of Apabhraṁśa literature. It also contains alphabetical index of words. **Pub.** Chowkhamba Vidyabhavana, Varanasi 1965, p.114,

**8. *Apabhraṁśa Bhāṣā kā Adhyāyana*** (Hindi) by Virendra Srivastava, a dissertation approved for D. Lit., is divided into four sections, and contains ten chapters, in all. It begins with the study of the meaning of the term Apabhraṁśa, treatment of Apabhraṁśa

in works of rhetorics, Prakrit grammars, Apabhraṁśa in literature, in inscriptions, its nature, classification etc. in the first, the phonetics, morphology, syntax etc. I are treated in the next sections. **Pub.** Bharati Sahitya Mandira, Favvara, Delhi, p. 302.

**9. *Apabhraṁśa Praveśa*** (Hindi) by Vipin Bihari Trivedi, containing four sections, deals with historical tradition of Apabhraṁśa, Apabhraṁśa as a language, literature of Apabhraṁśa, phonetics, morphology and selections from the text and glossary. **Pub.** Parula Prakashana, Lucknow 1967.

**10. *Sūtra Śaili Aura Apabhraṁśa Vyākaraṇa*** by Parama Mitra Shastri is divided into two sections, containing 7 and 6 chapters, respectively. The first section deals with the tradition of grammar, grammar in sūtra style, survey of sūtra style grammar in Sanskrit, Pali, and Prakrit. Prakrit grammarins dealing with Apabhraṁśa, Apabhraṁśa in Hemacandra's grammar and his works and relation between Apabhraṁśa and Deśī, in first section. The second section treats of phonetics, noinations, gerund, prefixes verbs, suffixes and adverb. **Pub.** Nagari Prachariṇi Sabha, Varanasi 1967, p. 245.

**11. *Apabhraṁśa Bhāṣā Aura Vyākaraṇa***, (Hindi) by Śiva Sahaya Pathak, is a linguistic study of Apabhraṁśa, consisting four chapters. It deals with history and evolution of Apabhraṁśa language, with Apabhraṁśa grammar, Deśī, types of Apabhraṁśa and its literature. It treats of phonetics, morphology and Hindi translation of the text, auto-commentary, as well as examples of relevant portion of Hemacandra *Śabdānuśāsana* (8/4/ 329-446) and an index of words. The Sanskrit rendering of examples is also given. **Pub.** Madhya Pradesh Hindi Grantha Academy, 97, Malaviya Nagar, Bhopal 1976. p. 16, 368.

**12. *Hemacandra ke Apabhraṁśa Sūtron ki Pṛṣṭhabhūmi*** (Hindi) by Parama Mitra Shastri and Ramānath Pandey, a linguistic study of Apabhraṁśa language, it is divided into 13 chapters. It throws

light on the Indo-Aryan languages, Middle Indian languages, Prakrit, Pali and Apabhraṁśa and later development of Prakrit, in the first two chapters. In the third chapter, it deals with the treatment of Apabhraṁśa in their work, period of Apabhraṁśa and its main features, its types and its relationship with Deśī Prakrit in fourth, treatment of Apabhraṁśa grammar in the grammatical work of Prakrits in the fifth. In the next chapters, it treats of phonetics, morphology, adverb, suffixes, verbs and syntax. **Pub.** Parama Mitra Prakasana, D pocket, 214, Dilasad Garden, Delhi 1999, p. 492.

**13. Apabhraṁśa Aura Hindi** (Hindi) by Devendra Kumar Jain, divided into thirteen sections, deals with meaning of Apabhraṁśa, Ābhiras and Apabhraṁśa, Sanskrit grammarians and Apabhraṁśa, Apabhraṁśa and Deśya, age and classification of Apabhraṁśa, its phonetics, morphology, syntax etc. in the first. The second, presents the account of its literature and sections 3-11 treat of prominent poets, prosody, sentiment, figure of speech, mottif etc. in Apabhraṁśa literature. The work separately deals with *Muktaka*, *Kaṇyas* (lyrics) evaluation of Apabhraṁśa with respect to various regional dialects including *Khadi Boli*. It also contains selections with Hindi translation made from prominent texts. **Pub.** Rajasthan Prakrit Bharati Sansthan, Prakrit Bharati Academy, S No. 26, Jaipur, p. 248.

**14. Apabhraṁśa Racanā Saurabha** (Hindi) by Kamalachand Sogani, is an attempt to teach Apabhraṁśa grammar and language through 84 exercises. **Pub.** Apabhraṁśa Sāhitya Academy, Jaina Vidya Sansthana, Digambar Jaina Atiśaya Kṣetra, Sri Mahavira Ji, 1991, p. 208.

**15. Apabhraṁśa Kāvya Saurabha** (Hindi) by Prof.KC Sogani, is a selection from different Apabhraṁśa works with Hindi translation, grammatical analysis and glossary. **Pub.** Apabhraṁśa Sāhitya Academy, Jaina Vidya Sansthana, Digambar Jaina Atiśaya Kṣetra, Sri Mahavira Ji, 1992, p. 102,198,44.

**b. Ardhamagadhi:**

**1. *Jaina Siddhānta Kaumudī*** (1882) by Śatāvadhānī Ratnacandra Ji is a grammar of Ardhamāgadhī Prakrit, written in Sanskrit sūtras. It also contains author's introduction and commentary in Sanskrit. *Dhātupāṭha*, *Sūtrapāṭha* and an alphabetical index of sūtras are also appended. Hemacandra, not treating Ardhamāgadhī in his *Śabdānuśāsana*, this work becomes very significant. Its author has also compiled Ardhamāgadhī Dictionary. **Pub.** Meharcanda Lachman Das, Lahore 1938. p.xii+411

**2. *Ardhamāgadhīvyākaraṇa***, Śatāvadhānī Ratnacandra (1938 CE).

**3. *Introduction to Ardhamāgadhī*** by A.M. Ghatage, in English, gives a short but illuminating account of the grammatical peculiarities of Ardhamāgadhī. It makes a general survey without any special reference to different stages of the language. The book is divided into three parts: Phonology, Morphology, Syntax and Compounds. Each part is sub-divided into several chapters, lessons or sections. There are three appendices: a grammatical summary, two glossaries one of the Ardhamāgadhī- English words and other of English - Ardhamagadhi words. **Pub.** School & College Book Stall, Kolhapur 4<sup>th</sup> Ed. 1951. p. XII, 257.

**4. *A Study of Ardhamāgadhī Grammar*** (English) by HB Gandhi is based on simple sūtras from the grammar of Hemacandra and good deal of examples from numerous books on grammar. It deals with origin and features of Ardhamāgadhī: phonetics, declension, conjugation, suffixes, compounds and syntax. **Pub.** Surat 1938, p. 102.

**5. *A Historical Grammar of Ardhamāgadhī*** (Sanskrit) by Satya Svarupa Misra & Haripriya Misra, begins with special features of OIA, MIA, various stages of MIA and individual dialects of various stages of MIA ,viz. Asokan, Pali, Niya, Māhārāṣṭrī, Śaurasenī, Māgadhī, Paīśācī and Ardhamāgadhī . All the normal and exceptional treatments of sounds have been included. In morphology, it presents



the history of case-endings and various nominal declensions and pronominal declensions, the numerals, personal endings. It also deals with history of the present, past and future formations of the verbs, participles, gerunds and infinitives. **Pub.** Ashutosh Prakasan Sansthana, Varanasi 1982, p. 8,132.

**6. *Prācīna Ardhamāgadhi ki Khoja Men*** (Hindi) K R Candra, attempts to show that the original language of the Śvetambar Āgama has suffered numerous alterations under impact of later influential Śaurasenī and Māhārāṣṭrī. A glimpse of original features of Ardhamāgadhi is evident from a few earlier canonical texts and from some preserved archaic variant readings. Dr. Candra's present study supplements and corroborates what other scholars have found from linguistic, formal, stylistic and content based features that are shared by the Aśokan and Pali on the other. The work invites fresh efforts to determine the real linguistic character. **Prakrit Jaina Vidya Vikasa Fund, Ahmedabad, 1991, p.18,112**

**7. *Restoration of Original Lanuage of Ardhamāgadhi*** (English) by K R Candra is the English version of above- mentioned work. **Pub.** Prakrit Jaina Vidya Vikasa Fund, Ahmedabad, 1994, p.103

**8. *Pramparāgata Prakrit Vyākaraṇa Ki Samikṣā Aura Ardhamāgadhi*** (Hindi) by KR Candra, in 15 sections, attempts to discuss the viability of certain rules, in the context of Old Prakrit, particularly Ardhamāgadhi and their usages in ancient manuscripts of the texts. It has picked up T> D, P>V, eliding of non-initial alpaprāṇa consonants, portion of Śruti, N>Ṇ, Non-initial N, two form of Ardhamāgadhi Old and New. **Pub.** Prakrit Jaina Vidya Vikasa Fund, 375, Sarasvati Nagar, Ahmedabad-15, 1995, p.152.

**9. *A Manual of Ardhamāgadhi Grammar*** (English) by PL Vaidya,

**10. *A Grammar of Ardhamāgadhi Prakrit, compiled*** by Śrī Śatāvadhānī Ratnacandra Muni . Meharcanda Lachman Das, Lahore, 1938.

11. ***Ardhamāgadhī Reader***, Banarasidass Jain, Punjab University Oriental Publications, Lahore 1923.

12. ***Ardhamāgadhī Grammar***, Dr. HiraLal Shastri, Shantivilla, Surat 1938.

13. ***Ardhamāgadhī Grammar for Beginners***, V.M. Shah, Ahmedabad.

14. ***Ardhmāgadhī Śabdarūpāvali*** by Ratnacandra Śatāvadhāni contains declension or inflection of Ardhamāgadhī nouns and pronouns. **Pub.** Sethia Jaina Granthamala No.72, Bhairodan Jethmala Sethia Bikaner 1928, p. 18.

15. ***Ardhmāgadhī Dhāturūpāvali*** by Ratnacandra Śatāvadhāni contains declension of Ardhamāgadhī roots. **Pub.** Sethia Jaina Granthamala No.72, Bhairodan Jethmala Sethia Bikaner 1928, p. 110.

### c. Works on Inscriptional Prakrit

***Historical Grammar of Inscriptional Prakrits*** by M.A.Mahendrale presents the entire inscriptional materials dating from the middle of the 3<sup>rd</sup> cent. B.C.E. to the end of 4<sup>th</sup> cent. CE in such a convenient manner that the relevant forms on any particular point can be picked out in a moment. The author has more over tried to locate , both in time and space , the exact spot where each of the various speech tendencies involved had its origin, and to indicate the directions in which those tendencies spread. For this purpose, he divided inscriptions into four regional groups: Western, Southern, Central, and Eastern leaving out Asokā's imperial edicts issued from Patalipitra which he dealt with separately in his first chapter. **Pub.** Deccan College Dissertation Sries 3, Deccan College Post Graduate & Researc Institute Pune 1948 ,p.XXXVIII, 342,

### d. Śaurasenī Grammar

***Śaurasenī Prakrit Vyākaraṇa*** (Hindi) by Udayacanda Jain, contains grammatical rules of Śaurasenī, the language of Āgamas

of Digambara, its phonetics, declension, etc. It also contains collections from different Śaurasenī works. The work has a scholarly introduction on evolution of this dialect in historical perspective by Prof. Premsuman Jain. **Pub.** Prakrit Adhyayana Prasara Kendra, Udaipur 1988, p. 119,128. (49/H154A).

### e. Deśya Prakrit

**Studies in Deśya Prakrit** by H.C. Bhayanī, is a collection of author's diverse writings, namely, *Studies in Deśīnāmamālā*, *Origins of multiple meanings of Deśya words*, *Bhāṣālakṣaṇa* chapter of *Gītālaṅkāra*, importance of *Jaina literature for the study of Deśya Prakrit*, notes on *Some Deśī words* and his *Apabhraṁśa* section, like other parts of the grammar, is written in sūtra and with fresh examples in verses *Prabandha Pañcaśatī Bhāṣā Sāmagrī*. **Pub.** Kalikāla Sarvajña Hemacandra Navam Janma Śatābdī Smṛti Śikṣaṇa Nidhi, Ahmedabad 1988, p.30, 278.

## VI. General works on Prakrit and their Catalogues

**1. A Bibliography of Prakrit Language (English)** compiled by S R Banerjee, attempts to register all important and significant writings done in the field of Prakrit in the major European languages since 1800 CE- a period when the study of Prakrit was beginning to come to lime light in the Western world. Only exceptionally, any item beyond 1960 has been included. The entries contained herein are 450, divided into, grammar and edited texts, Prakrit grammatical works and authors referred to, general books, papers, works and articles on Prakrit languages. **Pub.** Sanskrit Book Depot (P), Calcutta 6, 1977, p.31.

**2. Prakrit Languages and their Contribution to Indian Literature** (English) by SM Katre, attempts to introduce the literary and linguistic heritage, contained in the Prakrit literature and to assess the manifold contribution that Middle -Indo Aryan has made to Indian culture in general. **Pub.** Bharatiya Vidya Bhavan, Studies No 3, Bombay 1945, p.102,

3. **Prakrit Bhaṣāyen Aura Bhāratīya Sanskr̥ti Men Unakā Avadāna** (Hindi) translation by Ramashankar Jaitlee of above-mentioned work of S M Katre, **Pub.** Rajasthan Hindi Grantha Academy, Jaipur, 1972.

4. **Prakrit Svayamśikṣaka** (Hindi) by Dr. Prem Suman Jain, attempts to teach Prakrit translation and composition through very easy method. It also contains collections from various Prakrit texts. **Pub.** Prakrit Bharati, Jaipur, 1979, p.210.

5. **Prakrit Studies** (English -Hindi) ed. K R Candra, is a collection of twenty five articles, presented in the seminar held at Ahmedabad, 1973, **Pub.** L D Institute of Indology Series No. 70, Ahmedabad -9, 1978, p. XXXI, 186.

6. **Prakrit Racanā Saurabha** (Hindi) by Prof. K C Sogani, attempts to teach Prakrit translation and composition through 85 lessons, **Pub.** Apabhraṁśa Sahitya Academy, Jaina Vidya Sansthan, Digambar Jaina Atiśaya Kṣetra Śri Mahavira Ji -20, (Raj) 1994, p.256.

7. **Sanskrit Prakrit Jaina Vyākaraṇa Aura Kośa Ki Paramaparā** ed. Muni Dulaharaja, Kalu Gaṇi Janma- Śatābdī Samāroha Samiti, Chhapar (Raj.), 1977, p. XVIII, 570

8. **Historical Grammar of Ancient Indian Grammarians** (Sanskrit, Pali, Prkarit) (English) by Suresh Candra Banerjee, describes the works and the authors of Sanskrit, Pali and Prkarit in chronological order. It also contains bibliographical references. **Pub.** Sharda Publishing House, Delhi 1996, p. 220.

**(VII)Prakrit Grammars and Grammarians referred to:**

1. **A Prakrit Grammar with English translation quotes extracts from it**, vide Pischel {43,
2. **A Prakrti Grammar with English Translation**, Hṛṣikeśa Sastri, Lala Meharanda of Lahore. **Pub.** Calcutta 1883.

3. **A Short Grammar of Prakrit** (*Prakrit Śabda Rūpāvali*)  
Ramacandra Dinanath Shastri (Ahmedabad 1905),
4. **An Epitome of Prakrit Grammar**, Lakṣmaṇa Shastri (Tanjore 1904),
5. **Beitrag zur Grammatic des Jaina Prakrit**, Eduard Muller, Berlin 1879.
6. **Bhāṇḍirabhāṣāvyākaraṇa**- with vāgīvara's commentary  
*Bhāṣāmañjarī*, cf. IOC No. 5135.
7. **Bhāṣā Prakrit**, Berlin 1923.
8. **Bhāṣābheda**- mentioned by Candraśekhara in his commentary on Śakuntalā. cf. Pischel {41,
9. **Bhāṣārṇava**, Candraśekhara, the father of Viśvanātha, cf. Pischel {41,
10. **Bhāṣāvivecana**-- cf. Pischel {41,
11. **Bhāratamañjarī**, Narayaṇa, written in five Āśvāsas in poem as exercise in Prakrit. cf. IOC No. 5135.
12. **De Grammaticis Pracritics**, R. Pischel (Vratislaciae 1874),
13. **De Prakrita Dialects Libric Duc** by Howffar (Berlin 1836),
14. **Deśi- Prakāśa** -Pṭhvidhara on Mṛcchakaṭika quotes from it, vide Pischel {41,
15. **Deśisiddha**-vide Pischel {8,
16. **Ṣaḍbhāṣācandrikā**, Bhāmakavi , Aufrecht, Cat. Cat.I. 679.
17. **Ṣaḍbhāṣāmañjarī**-Aufrecht, Cat. Cat.I. 679.
18. **Ṣaḍbhāṣārūpamālikā**, Durganācārya, mentioned by Lakṣmīdhara in Ṣaḍbhāṣācandrikā.

19. *Ṣaḍbhāṣāsubanta (rūp)ādarśa* of Nāgoba Aufrecht, Cat. Cat.I. 679,
20. *Ṣaḍbhāṣāvārtika* - same as *Prakritrahasya*. Aufrecht, Cat. Cat.I. 679,
21. *Ṣaḍbhāṣā-vivarāṇa-*, V. Kṛṣṇamācārya, Brahmavidyā, XXVI, 1962, pp. 98-100.
22. *Elementarbuch der Śaurasenī* R. Hannover (1924).
23. *Institutiones Lingue Pracriticae*, Christianus Lassen (Berlin 1923),
24. *Institutiones Lingue Pracriticae*. Nicolaus, Delius, (Bonnae, ad Rhenun, 1839),
25. *Institutiones Lingue Pracriticae*. Christianus Lassen, (Bonnae and Rhenum, 1837).
26. *Jenaer Literaturzeitung*, R. Pischel (1875),.
27. *Materialen Zur Kenntres Des Apabhrañśa*, R.Pischel, Berlin 1902.
28. *Elementarbuch der Śaurasenī* R. Hannover (1924).
29. *Pāiya Paveśa* by Hiralal Sanghavi, Sārvajanika Book, Surat.
30. *Prakrit Grammatic*, T. K. Laddu (Halle 1912),
31. *Prakrit- Vyākaraṇa* of Bhoja- cf. Pischel {41,
32. *Prakrit - vyākaraṇa* of Puṣpanātha, Pischel {41. Appaya Dīxīt in his *Prakrit Maṇidīpa* mentions the name of Puṣpanātha as one of his authorities.
33. *Prakrit- (Śabda) Pradīpikā* of Narasimha ḍ Printed in Grantha pradarśinī Series, Theodor Aufrecht, Catalogus Catalogorum I. 360.
34. *Prakrit (śabda) Pradīpikā* of Narasimha,
35. *Prakrit Candrikā* -A translation of Prakrti passages in the Veṅīsaṅhāra, Theodor Aufrecht, Catalogus Catalogorum I. 360

36. **Prakrit Candrikā** of Vāmanācārya. Vide Pischel {41,
37. **Prakrit Kaumudī**, Theodor Aufrecht, Catalogus Catalogorum I. 360. Vide Pischel {41, only the name of the text.
38. **Prakrit Lakṣaṇa** of Pāṇinī, Referred to by Hornele in the introduction to his edition of Caṇḍa's Prakrit Lakṣaṇa, Calcutta cf. Pischel {31,
39. **Prakrit Nāmaliṅgānuśāsana**, Theodor Aufrecht, Catalogus Catalogorum I. 360
40. **Prakrit sāhitya- Ratnākara**-Pischel {41, Candraśekhara, the father of Viśvanātha, and the author Bhāṣārṇava, refers to it in his commentary on Śakuntalā. He also quotes one Bhāṣābheda - a work on Prakrit.
41. **Prakrit Saṃskāra**- Aufrecht, Cat. Cat.I. 361.
42. **Prakrit Sāroddhāravṛtti**- cf. Pischel {34,
43. **Prakrit Sutra Vālmiki**- Aufrecht, Cat. Cat.I. 361.
44. **Prakrit Vyākaraṇa** of Puṣpanātha,
45. **Prakritāṣṭadhyaī**-- Aufrecht, Cat. Cat.I. 361.
46. **Prakritbhāṣāntaravidhāna** of Candra- Theodor Aufrecht, Catalogus Catalogorum I. 360.
47. **Prakritbhāṣāntaravidhāna of Candra**,
48. **Prakritbhāṣāprakriyā**- Theodor Aufrecht, Catalogus Catalogorum II. 302.
49. **Prakriticia**, S. Gold Schmidt (Strassburg 1879),
50. **Prakritkalpalatikā**, Quoted by Hriṣikesh Shastri, in his work.
51. **Prakritprabodha** of Narendracandrasūri or Naracandra-Pischel {36, and Theodor Aufrecht, Catalogus Catalogorum I. 360. It is a commentary on Hemacandra's Prakrit grammar, dealing with the declensions and conjugation of words in 8th chapters.

52. *Prakrit-vyākaraṇa* of Samntabhadra- cf. Pischel {41, only the name. Aufrecht, Cat. Cat. I. 361.
53. *Prolegomena Zu Trivikramas* R. Pischel ( Berlin 1902),
54. *Radices Pracriticae*, Nicolaus, Delius, Bonnae, ad Rhenun, 1839.
55. *Svayambhū-Vyākaraṇa* of Svayambhū (8<sup>th</sup> cent.)- an Apabhraṁśa-Vyākaraṇa, not extant.
56. *Vararuci and Hemacandra*, Theodor Block, Gutersloh, 1893.
57. *Vārtikārṇava-bhāṣya*, Kātyāyana, cf. Pischel {32,41 }.

\*\*\*\*

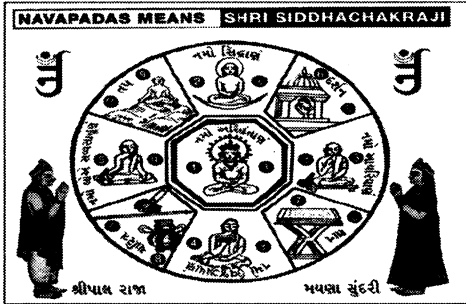


# The Siddhacakra and Namokāra Mantra

Drew Stephens

*The Siddhacakra is a Yantra depicting nine essential elements of Jainism. This Yantra Siddhacakra can be worshipped daily by oneself with the principal rite of Jain worship, the eightfold-worship. The Namokāra mantra is most frequently uttered prayer in Jainism, towards the five supreme being. This article traces the origin of writing of Namokāra mantra in Jain literary tradition. Treatment of Siddhacakra is mainly based on Yogaśāstra of Hemacandra. Beside eightfold worship, Siddhacakra also plays a role in Snātra pūjā, Navapada or Āyambila. This yantra should be seen as the most successful attempt to organize the worshipful objects of Jain devotion into a single yantra. This article also discusses the role played in esoteric and trantic exercised foundational element of Trantic Sādhanā in the context of the two- Siddhayantra and Namokāra mantra.*

-Editor



NAV PAD	
1	Arihant
2	Siddha
3	Acharya
4	Upadhyaya
5	Sadhu
6	Darshan
7	Gyan
8	Charitra
9	Tapa

Top left= Siddhacakra yantra in a temple with ritual offerings placed on it. Top right= Siddhacakra being bathed in milk during the snātra pūjā, or ritual bath, Bottom= The corresponding nine worshipful elements in Jainism displayed in the yantra.

The *Siddhacakra* is a yantra depicting “nine essential elements of Jainism.”<sup>1</sup> It is to be used in meditation by one as an alternative towards worshipping one’s guru in case he is not present, because it depicts the nine elements of Jainism most worthy of worship. These elements include *arihant* (meaning conqueror of enemies), *siddhas* (accomplished/liberated ones), *Ācāryas* (heads of the saṅgha), *upādhyāya* (teachers of scriptures) the *sādhu* (ascetic), *darśana* (faith) *jñāna* (wisdom) *cāritra* (conduct), as a sort of collective idol which one can perform the ashta pūjā to, or the daily offering of eight items to a Jain idol, typically a *Tīrthankara*. Sandalwood paste and flowers are among the eight items offered to the figures on this Siddhacakra. While one might think that the offering of flowers and sandalwood paste is merely a common Indian method of devotion (*bhakti*), the Jains are careful to incorporate spiritual meaning to the pūjā, so as to blur the lines between merely *devotion (bhakti)* practice and methodological meditation. For example, when one places the flowers and sandalwood paste on the *Siddhacakra*, or any Jain idol, maṇḍala etcetera, it symbolizes the conduct and knowledge that the worshipper aspires to respectively. The meanings of the other six items offered to the *Siddhacakra* or any Jain idol are the ocean of saṃsāra one must cross to reach liberation as water, the *tapa* of ascetic life as incense, pure consciousness as the candle, rice as a non-fertile grain as meaning the confidence that this is one’s last birth, sweet food as indulgence devoid of attachment, and finally fruit as the resulting reward of ones long self-cultivation.<sup>2</sup>

This use of the yantra shows that the *Siddhacakra* can be worshipped daily by oneself with the principle rite of Jain worship, the *aṣṭa-pūjā*, and also conveys the importance of meanings of offerings attributed to the *Siddhacakra* or Idol worship. While many may typically assume that Jain devotion or *bhakti* is primarily based on the desire to acquire good karma, many Jains in fact worship the idols with devotion with the hopes of eliminating their karma, thereby

progressing toward liberation, a goal often thought to be reachable only through austerity.

The Namokāra mantra is “The most frequently uttered prayer and sacred formula in Jainism; an expression of homage to the five worship-worthy beings; the *Tīrthānkars*, the liberated souls, the ascetic leaders, the ascetic preceptors and the ordinary ascetics.”<sup>3</sup> In reciting this so called *Mahā-mantra* of Jainism, one says “ I bow to the *arhats*, I bow to the *siddhas*, I bow to the āchāryas, I bow to the teachers, I bow to the *sādhus*,” as the primary content of the *mantra*, but then this *mantra* is finished with saying “This five-fold *mantra* destroys all sins and obstacles and of all auspicious *mantras*, is the first and foremost one,” thereby reiterating why it is considered the *Mahā-mantra* of their religion. It should be noted that when the *Pañca paramēṣṭhi* version of the Namokāra mantra is recited it is only towards the five supreme beings, while when called the Navakāra mantra the four supreme attributes additionally listed in the *Siddhacakra* are also recited. In addition to simply stating that one bows in devotion to the the *Arhat*, *Siddha*, *Ācārya*, teacher and *Sādhu* respectively, the mantra states the outcome of its recitation is that the mantra itself destroys sins and obstacles (*karma*) so that one may progress towards becoming the very *Arhat* that the mantra is used for worshipping.

There is a long tradition of writing down the mantra at the start of a text or inscription, to ensure, as stated above that obstacles will be overcome. The earliest example of this practice is from the Hathigumpha inscription from 162 B.C.E., which also mentions the Jain King Kharvela. No one knows exactly how old the mantra is but Hemacandra gives an account of its earliest place in legend when he writes in his work, *Triṣaṣṭīśalākā puruṣacaritra* (*The Lives of the Sixty Three Great Men*), that Pārśvanātha, the Tīrthānkara before Mahāvīra, recited this mantra in order to magically ensure that two dying snakes would magically be re-incarnated as the king

and queen of the nāgas, who in turn become the attendants of Pārśvanātha, Dharaṇendra and Padmāvati<sup>4</sup>. The Namokāra mantra is so important to the Jain community that it appears they have developed an entire style of music, which sings this mantra in innumerable tempos and pitches in order to dance in celebration while singing the mantra. Additionally, there are smartphone 'apps' geared for Jains, which play Namokāra radio stations to the accompaniment of sliding images of Jain Tīrthānkara Idols.

### **Context- Siddhacakra and Namokāra mantra**

I first became aware of both the *Siddhacakra* and Namokāra mantra in reading the *Yogaśāstra* of Hemacandra, wherein he gives a beautiful description of the *Siddhacakra* meditation, and concludes saying that this practice should be properly learned before a *guru* before practicing, a warning he gives only to this specific teaching. Hemacandra states:

“Taking from the Vidyāpravāda, the wise and intelligent monks like *Vajraswāmi* and others thought the *Siddhacakra* to be the seed of emancipation, and a water bearing cloud capable of quelling the fire of continued re-births. The circle of the siddhas should always be learned from the *guru* and meditated upon for the destruction of karma.”<sup>5</sup>

From this praise of the *Siddhacakra* worship and claim of its power to destroy karma, it can be seen that if the Namokāra mantra is the Mahāmantra of Jainism due to its capability to destroy karma, the Siddhachakra yantra in turn would safely be considered the Mahāyantra of the religion and as complementary to the Namokāra Mantra. Hemacandra furthermore explains that the Namokāra mantra also purifies one from karma when stating :

“More over the yogis should especially meditate on the purest of mantras, the Pañca-paremeṣṭhi namaskāra mantra, the absolver for the three worlds.”<sup>6</sup> Prescriptions are given to recite this mantra 108

times in order to receive the exact merit of one full fast “though he may be eating all along.”<sup>7</sup>

Hemacandra brings both the *Siddhacakra* and Namaskāra mantra up in a chapter dedicated to meditation on mystic syllables or *Padastha dhyāna*, showing that the two tools are complements of each other, and that one should think of the *Siddhacakra* while reciting the mantra and vice versa. Also *Jainpedia.org* testifies to the associated between the Namokāra mantra and the *Siddhacakra* yantra.<sup>8</sup> Hemacandra includes a lengthy description of the application of this mantra and yantra in his eighth chapter of the *Yogaśāstra*, which includes visualizing inside one’s body the five figures worthy of worship sitting on a lotus and its petals atop the summit of Mount Meru.

From this description, it appears evident the *Siddhacakra* Yantra and Namokāra mantra both are methodological tools used by the laities to worship all that deserves worship throughout Jainism with the aid of a visual and auditory anchor, which leads us into form.

Due to the importance of the *Siddhacakra* yantra and Namokāra mantra, they are both used in a variety of kinds of Jain worship and meditation. For example, one of the most popular websites of Jain believers describes the *Siddhacakra*, also called the *Navapada*, in a way re-iterating its use as a meditational yantra, in saying :

“It is absolutely essential to keep the mind concentrated in an auspicious meditation in order to attain the purity and perfection of the soul. There is the need for a prop of something if the mind should acquire concentration and should intensify it. In all the theories and directions in the Jain Dharma relating to meditation, there is a very interesting and beautiful description of the *Navapada*.”<sup>9</sup>

This Jain believer goes on to say that while worshipping the figures mentioned in the Namokāra mantra and Navpada/Siddhacakra Yantra one ideally meditates on all their attributes as well. The Arhat has twelve, the *Siddha* has eight, the Ācārya thirty six, the Upādhyāya

twenty five, and the *Sādhu* twenty seven, making a total of one hundred and eight attributes worthy of worship, conveniently the same number of beads on an Indian garland (mala) and possibly the most sacred number to India.<sup>10</sup> These attributes differ slightly between the Digambara and Śvetāmbara sects but the number sequence adding to 108 is the same. This shift from worshipping the Tīrthānkara's attributes instead of merely the liberated person is important as it shows that the functionality in Jain ritual lies in its ability to harmonize the essence of devotion (*bhakti*) and the memorizing Jain ideals into one practice. This example of Jain prayer emphasizes that worshippers are worshipping the idols for their attributes and not just as people when saying, "To the leaders on the path of liberation, destroyers of mountains of karmas, knowers of the whole of reality, I bow to acquire their qualities," and also "The virtues of the *Siddhacakra* are so many, We can't describe them."<sup>11</sup> They fulfill the desires of the worshipper.

We pray them thousand times'.<sup>12</sup> In this way the practitioner can pay devotion to the five worshipful beings through the *Siddhacakra* and Namokāra mantra while systematically memorizing their 108 attributes with a *mālā* in hand. As the notable scholar Lawrence Babb notices *Siddhacakra*'s use in Ritual pūjā.

The *Siddhacakra* may be used in the principle form of ritual worship the *Aṣṭa pūjā*, or offering of eights auspicious and spiritually meaningful items. In the above top-left picture at the start of this essay it shows a common representation of the *Siddhacakra* with flowers and sandalwood paste offered to it. This picture shows the *Siddhacakra* as a sort of collective idol, which one can perform the ashta puja to, or the daily offering of eight items to a Jain idol, typically a Tīrthānkara idol. Sandalwood paste and flowers are among the eight items that can clearly be seen offered to the figures on this *Siddhacakra*. While one might think that the offering of flowers and sandalwood paste is merely a common Indian method of devotion

(*bhakti*), the Jains are careful to incorporate spiritual meaning to the puja so as to blur the lines between merely bhakti practice and methodological meditation. For example, when one places the flowers and sandalwood paste on the *Siddhacakra*, or any Jain idol, *Maṇḍala* etcetera, it symbolizes the conduct and knowledge that the worshipper aspires to respectively. The meanings of the other six items offered to the *Siddhacakra* or any Jain Idol are the ocean of saṁsāra one must cross to reach liberation as water, the tapas of ascetic life as incense, pure consciousness as the candle, rice as a non-fertile grain as meaning the confidence that this is one's last birth, sweet food as indulgence devoid of attachment, and finally fruit as the resulting reward of one's long self-cultivation.<sup>13</sup>

This use of the yantra shows that the *Siddhacakra* can be worshipped daily by oneself with the principle right of Jain worship, the aṣṭa-pūjā, and also conveys the importance of meanings of offerings attributed to the *Siddhacakra* or Idol worship.

The *Siddhacakra* also plays a role in the snātra pūjā, which is a re-enactment of the Tīrthāṅkara's anointment (*Abhiṣeka*) by Indra and the Gods at the climax of his birth celebration. On the picture at the top right of this document, one can see the idol is installed at the top of a miniature Mount Meru where he and a *Siddhacakra* are bathed in *pañcāmṛta* or five kinds of immortality granting nectar symbolized by milk, curds, sugar, saffron, and butter.<sup>14</sup> The liquid symbolizing nectar washes over the idol and the *Siddhacakra* to then be collected out of a spout, (much like the spout of a *yoni-liṅgama*), so that worshippers can use the liquid for its magical properties. The snātra pūjā along with the kalyāṇaka pūjā, which celebrates the five sacred rites of passage in a Tīrthāṅkara's life, invokes the presence of all the deities of heaven as exemplar devotees of Jainism. In this context it becomes clear from the elaborate dress of the worshippers, who wear crowns and tiaras, that they are in fact identifying themselves with the gods so as to worship the Tīrthāṅkara in the same way that he was worshipped by the gods in myth and legend.<sup>15</sup>

*Pūjā* which uses the *Siddhacakra*, but was unable to find much information on is called the Arihanta pūjā. In this description from a jain website we hear of :

“A lengthy temple ritual which can take three days to complete is the Arihanta *pūjā*, paying respect to the arihants. There is a ritual of prayer focused on the *Siddhacakra*, a lotus-shaped disc bearing representations of the *arhat*, the liberated soul, religious teacher, religious leader and the monk (the five praiseworthy beings), as well as the four qualities namely perception, knowledge, conduct and austerity to uplift the soul.”<sup>16</sup>

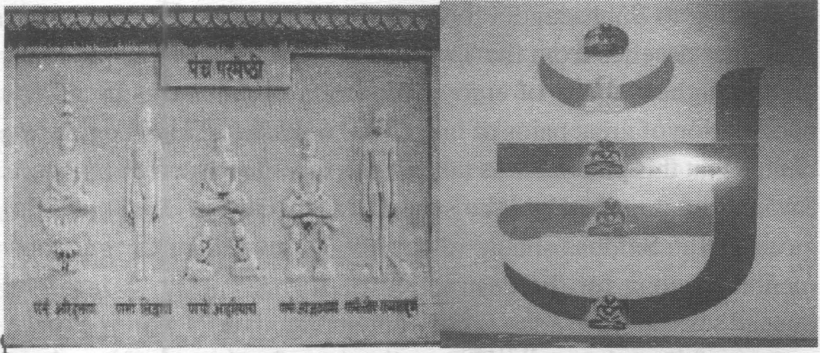
This Pūjā, of which I could not find information on elsewhere, sounds very reminiscent of a ritual Hemacandra describes in which one meditates on the *Siddhacakra* diagram while reciting om Namō Arihanāṇaṃ, the first and most important line of the Namokāra mantra, one thousand and one hundred times, and that “one should meditate in this manner for eight days this eight lettered mystical mantra to remove all odds and obstacles.”<sup>17</sup> To differentiate whether one is performing the ritual for liberation or worldly desires one simply meditates without Om and with Om respectively.<sup>18</sup>

This brings us to the last *pūjā* in which the *Siddhacakra* is directly involved which is the festival called *Navapada Oli* or *Āyambila*. The contemporary practice of this pūjā seems to be largely geared on the legend of King Śripāla and his Queen Mayanasundari. In this story the Queen cures her husband and seven hundred others with leprosy by asking the guru for help and receiving the *Siddhacakra* teaching along with its complementary Oli fast. The earliest available text of this legend comes from Ratnaśekharsūri in 1372 C.E., but as seen before, the vow of worshipping the *Siddhacakra* and the Namokāra mantra for eight days while the Navpad Oli worship of the *Siddhacakra* lasts nine days. The *Āyambila* or Oli fast requires that one can only eat boiled grains once a day for food. A significant difference between this use of the *Siddhacakra* and its other uses is



that in the Navpada *Oli pūjā* the yantra is made on the ground with sand grains, much like the method used to make the Tibetan Sand Maṇḍalas. Jains then bring a wealth of offerings to yantra made from colored grains and also create their own offerings out of rice such as making a *swāstika* out of rice topped with three small piles of rice, a crescent moon, and an *anuswāra* or dot. This rice offering represents the four types of domains in the universe, the human, animal, heaven, and hell as the four squares in the *swāstika*, with the three piles representing the three jewels of right conduct, view, and knowledge, the crescent representing the abode of the Siddhas, and the *Anuswāra* as the *Arhat*.

The *Siddhacakra* should be seen as the most successful attempt to organize the worshipful objects of Jain devotion into a single yantra. However, this does not mean that it was the only attempt. There are other Jain yantras, which appear to aspire to the same goal. For example, below to the right is a sacred syllable symbol with each of its lines representing the five worshipful beings alluded to in the *Siddhacakra* and Namokāra mantra. Right below this picture is another attempt to show the five worshipful beings alongside the Namokāra mantra. John Cort explains that even the mendicant is not dismissed from worshipping the five worshipful beings with an idol. While the mendicant does not make offerings to the five worshipful beings as the laity do towards the *Siddhacakra*, due to his lack of possessions, he nevertheless carries around with him five conch shells representing the five worshipful beings, who are also the main focus of the *Siddhacakra* and Namokāra mantra. These conch shells he wraps in a cloth and places atop a tripod made of three sticks whenever he lectures, begs, or does anything of religious importance. This tool used for the worship of the five supreme beings called a *Sthāpanācārya*, is among the only possessions a mendicant owns besides a fly whisp and a mouth cover.<sup>19</sup> Below are other attempts at outlining the five worshipful beings in a visual representation.



Now that a back-ground of the *Siddhacakra* and Namokāra mantra has been laid out, let us look into their roles played in esoteric and arguably tantric exercises. There is much to be explored regarding the role the *Siddhacakra* and associated Namokāra mantra play throughout Jain yoga/tantra treatises written by authors in the Medieval era such as Somadeva, Hemacandra, and Śubhacandra. Specifically I would like to argue that the prescribed program of meditation within these author's writings represents a trend which when analyzed and compared to *Śaiva*, *Śākta* and *Vajrayāna* contexts can clearly seen to be definable as tantric. Somadeva, Hemacandra, and Śubhacandra all describe four kinds of meditation, *Piṇḍastha*, *Padastha*, *Rūpastha*, and *Rupātīta*, or meditation based on objects, mantras, form, and formlessness respectively. In the 8<sup>th</sup> chapter of Hemacandra's *Yogaśāstra* and the 38<sup>th</sup> chapter of Śubhacandra's *Jñānāraṇava* one finds two nearly identical descriptions of a *Siddhacakra* padastha practice. This practice involves one conceptualizing oneself as the arihant himself seated on his throne in the center of an eight petal lotus which, I identify as the Siddhacakra, otherwise known as the Navapada in reference to its nine/nava positions (eight petals surrounding the ninth position in the center) where the Arihant is seated. Next the practitioner installs the five letter vidyā/spell ASIAAUSAA, an acronym for the five worshipful beings figured in the Namokāra mantra, onto five separate "lotuses," or cakras, in the body.

According to Subhacandra this practice was revived by Sañjayant and other ascetics from the Tenth *Pūrva* called Vidyā-nuvāda and “is the highest abode of enjoyment and mokṣa” and is used “for pacification of great pains of birth”(i.e. *saṁsāra*).<sup>20</sup> The *Yogaśāstra* claims that this practice was taken from the *Vidyāpravāda* by Vajra Swāmi and preached as “the seed of emancipation” and that “the circle of the Siddhas should always be learned from the *guru* and meditated upon for the destruction of *karma*.”<sup>21</sup> The *Yogaśāstra* instead says the Vidyā should be contemplated on “according to the precept of the scripture.”<sup>22</sup> The motivation of making the Namokāra mantra into an acronym seems to largely be based on the practicality of being able to install the seed syllables onto the lotuses/chakras of the body. The installation of seed syllables representing divinities onto the body is foundational to Tantric systems throughout India and is known by the term *nyāsa*. An excellent example of *nyāsa* used as a tantric method is outlined in Jayākhyā-Saṁhitā, available in the appendix to *The Tantric Body; The Secret Tradition of Hindu Religion*, by Gavin Flood.

In this text one is reminded that the divinization of the body which takes place with *Nyāsa* can only be performed when it directly follows the *bhūtaśuddhi*, or purification of the body procedure. Very important and revealing is that the installation of the five worshipful beings in the *Siddhacakra* practice also can only be performed after first purifying the body. Both the *Yogaśāstra* and the *Jñānāraṇava* describe this *bhūtaśuddhi* process in detail throughout their chapters on *piṇḍastha* meditation. The Jain *piṇḍastha* and classic tantra *bhūtaśuddhi* both involve envisioning the elements earth fire water and air as being purified in a nearly identical manner. For instance in both the *Yogaśāstra* and *Jñānāraṇava* the practitioner visualizes that his body made of earth along with its karmas are burnt to ashes with fire, washed away with water, and swept away with wind, and Gavin flood gives a nearly identical presentation of *Bhūtaśuddhi* from the tantric texts *Jayākhyā* and *Somaśambu* in saying “the adept burns the body in imagination and then floods it with the water

arising from his meditation in order to create a pure divine body for worship.”<sup>23</sup> The processes of purification and divinization of the self through bhūtaśuddhi and Nyāsa were evidently so foundational to Indian tantra that Jainism could not easily ignore them, for doing so would risk the losing followers who were drawn to such elaborate and systematic methods towards salvation, while also making conversion to Jainism less appealing due to an alternatively difficult process of salvation through mere rigorous austerity and meditation on the pure self. Bhūtaśuddhi and nyāsa were so foundational to tantric systematics that Jainism evidently saw it to its advantage to appropriate these methods into its own Yoga/tantric system rather than to criticize and abstain from them. Gavin Flood confirms the foundational nature of bhūtaśuddhi and nyāsa in saying, “if anything is common to tantric traditions it is the divinization of the body through the processes we have described:., "mantra, the bhūtaśuddhi, Nyāsa and so on.”<sup>24</sup>

### **Attaining yoga or union with one's Iṣṭa-devatā as a tantric meditational practice**

Another foundational element of Tantric Sādhana is the notion that through meditation on one's *Iṣṭa-devatā* in devotion one may acquire likeness or identity with that deity. Arthur Avalon, recognized as one of the first western scholars to seriously study Indian Tantra remarks “So the Mind which thinks of the divinity which it worships, (*iṣṭa-devatā*) is at length, through continued devotion transformed into the likeness of that Devatā. By allowing the Devatā thus to occupy the mind for long it becomes as pure as the Devatā. This is the fundamental principle of *Tāntrika Sādhana* or religious practice.”<sup>25</sup>

Just as the laity clearly identifies with the gods as proto-exemplars of the ideal Jain devotee, the *Siddhacakra* and Namokāra mantra appear to encourage the devotee to meditate on the 108 divine qualities so as to identify with the ascetic and the Arihant himself. This process of identifying with the Arihant through the systematic worship of his divine attributes becomes quite clear when reading

Hemacandra's instruction to the practitioner telling him "one should imagine one's own luminous soul residing in the eight petaled lotus," a spot generally reserved for the arhat, who, being in the center, has the remaining eight worshipful things and beings surrounding him on the eight petals of the lotus.<sup>26</sup> Hemacandra elaborates on how devotion to the Arhat in the center of the eight other petals (worshipful beings/things), can lead one to actually become the arhat being worshipped in saying:

"By the practice of material meditation, the meditating yogi, who identifies himself with the omniscient, finds himself to be an

omniscient. The omniscient on whom I am meditating is myself. Having thus identified himself with the omniscient, the meditating yogi is accepted as an omniscient. By meditating on the detached, one himself becomes detached and gets free from the karmic bondage. By meditating on the attached, one himself becomes a victim of attachment. He who constantly indulges in a certain sentiment, comes to be identified with that particular sentiment, just as a crystal that assumed the color in juxtaposition of which it is placed."<sup>27</sup>

This passage is nearly identically parallel to the description of *Rūpastha* meditation in the *Jñānāraṇava* text which says "The impure soul becomes one with that thought-action, with which he is unified; as a crystal attains the color, with which it is associated with."<sup>28</sup> Here in these descriptions of *Rūpastha* meditation is where I see the foundation of Jain ritual devotion. More so than other Indian traditions, Jainism stresses that the soul is a mirror, or a crystal, which is commonly used to describe karma as a dust gathering on this mirror, hindering its reflection. In this context however the soul as a mirror wiped clean of the dust of karma is able to reflect what is set in front of it, including the siddhachakra and Namokāra mantra. Hemacandra and Śubhacandra are literally suggesting that "you are what you think," and that to meditate on the *Arihanta* centered in the *Siddhachakra* with all one's mind is essentially allowing one to become a mirror image whatever is

worshipped. This brings to mind the law of karma as expressed in the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*, which says that :

“What a man turns out to be depends on how he acts and how he conducts himself. If his actions are good, he will turn into something good, A man turns into something good by good action and bad by bad action. And so people say, ‘a person here consists simply of desire.’ A man who resolves in accordance with his desire acts in accordance with his resolve, and turns out to be in accordance with his action ‘ A man who’s attached goes with his action, to that very place which his mind and character cling. When they are all banished, those desires lurking in one’s heart; then a person become immortal.”<sup>29</sup>

This description of karma sounds very similar to how Hemacandra above describes one as essentially the same as what he desires and chooses to perceive. Hence if one’s only desire is to become desireless like the *Arihant* then this necessarily come about. David Gordon White interestingly brings up an interesting Indian theory of yogic perception in his *Sinister Yogis*, which mentions the notion that light bursts forth out of people’s eyes mimicking the streaming of rays from the sun, and consequently eats its objects of perception as food. With this he brilliantly suggests that this is how Idols are able to receive the edible offerings in front of them, the offerings are eaten by the idols through their gaze.<sup>30</sup> This helps one understand the concept of non-duality within Indian religion and also sheds some light on how one may acquire likeness or identity with one’s object of devotion/meditation. Clearly from this evidence one can see the that fundamental tantric method of attaining likeness or identity with one’s object of devotion/meditation was prevalent within Jainism at least in the times of Hemacandra and Śubhacandra.

### **Goddess of Emancipation and attributes of Jina anthropomorphized as celestial goddesses.**

The most striking element found within the texts of Hemacandra and Śubhacandra, along with Somadeva, is the notion of the bliss of

emancipation being symbolized by the sexual union with Mokṣa-Lakṣmī, who most often is thought of as the consort of Viṣṇu, but in these author's texts also plays the role of consort to the Arihants and Siddhas. This element of sublimating sexuality to symbolize the bliss of emancipation likely the most recognizable as Tantric. While in Somadevas writing one could argue that the mention of salvation and sexual union with Lakṣmi is merely a literary ornamentation, it clearly plays a more systematic role in *Yogaśāstra* and *Jñānārṇava* as it is brought up in specifically instructive and technical passages devoid of any prose or literary ornamentation. For instance, in the chapter on *Padastha* in *Yogaśāstra* the Arham mantra is said to unite one with the goddess of liberation and in the *Jñānārṇava* it is said that one mantra serves as a female messenger between the meditating practitioner and the goddess of salvation.

### **Concluding Remark:**

Admittedly, I was at first very hesitant to write on this topic of Jain Tantra within *Piṇḍastha*, *Padastha*, *Rūpastha* and *Rūpātīta* meditation techniques, due to the fact that I wrongly assumed it was an obscure trend that only lasted a couple centuries. However I was fortunate enough to be given a brief outline of Jain meditation by the famous Digambara Ācārya nun Mātāji in the Jambūdwēep temple complex of Hastinapur. This thankfully revitalized my interest in this systematic outline of meditation highlighted by Hemacandra and Śubhacandra. It is my hope that this research has not only highlighted the fundamental tantric elements existent in Jain meditation but also will help show that Jain yoga is much more than simply the yoga (activity) of following all the customary vows in adherence to the three jewels *samyagdarśana*, *samyagjñāna* and *samyak cāritra*.

### **References :**

1. Babb, Absent Lord, p.221
2. <http://www.sacred-texts.com/jai/8puja.txt>

3. Babb, Absent Lord, p.220
4. <http://jainsquare.com/2011/06/02/the-deliverance-of-the-pair-of-serpents>
5. Yogaśāstra, Hemacandra, eighth chapter, p.223
6. Ibid, p. 211
7. Ibid p.212, p.213 states “ The fruit of the recitation of this mystical formula which has been described as one full fast, is with the view to inspire the novices or unlettered; but the wise say that it is capable of entitling one to heavenly existence of even absolution.”
8. <http://beta.jainpedia.org/themes/principles/holy-symbols/siddhacakra.html>
9. <http://www.jainworld.com/jainbooks/guideline/60.htm>
10. [http://www.jainlibrary.org/elib\\_master/jaina\\_edu/jaina\\_edu\\_article/108\\_Attributes\\_of\\_the\\_Five\\_Supreme\\_Beings\\_200014.pdf](http://www.jainlibrary.org/elib_master/jaina_edu/jaina_edu_article/108_Attributes_of_the_Five_Supreme_Beings_200014.pdf)
11. <http://www.jainworld.com/jainbooks/firststep-1/parmeshthi.htm>
12. <http://www.jainuniversity.org/oli.aspx>
13. <http://www.sacred-texts.com/jai/8puja.txt>
14. Babb, Absent Lord, p.75
15. Ibid,p.79
16. <http://www.jainworld.com/philosophy/worship.asp>
17. Yogaśāstra, Hemacandra, p.221
18. Ibid, p.222
19. [http://www.jacklaughlin.ca/readings/spiritual\\_life/cort\\_svetambara\\_murtipujak\\_mendicant.pdf](http://www.jacklaughlin.ca/readings/spiritual_life/cort_svetambara_murtipujak_mendicant.pdf) Svetambara Murtipujak Mendicant p.66
20. Jñānāraṇava, Śubhacandra, p. 408
21. Yogaśāstra, Hemacandra, p. 223
22. Ibid
23. Gavin Flood, *The Tantric Body*, p.142
24. Ibid, p.171
25. Comparative Mantrashastra, p. 33
26. Yogaśāstra, Hemacandra, p. 221
27. Ibid, 227, 228 This passage is nearly identical to the description of
28. Yogaśāstra, Hemacandra, p. 418
29. *Upaniśadas*, Patrick Olivelle, p.65
30. Sinister Yogis, David Gordon White, p.154-155



## पार्श्वनाथ विद्यापीठ समाचार

### 15 Days National Workshop on Prakrit Language and Literature

January 4-18, 2014

Sponsored by Shri Lekh Raj Mehta, Senior  
Advocate, Jodhpur



Parshwnanth Vidyapeeth

Sh. Lekh Raj Mehta

#### Objective of the Workshop:

There is enormous literature in Prakrit, majority of the Prakrit works still remains inaccessible to the scholars of Jainology as well as to those working in other disciplines because of non-availability of Prakrit texts with their translations in other languages. For comparative study of Indian tradition, history, culture, literature, language, poetics etc. knowledge of Prakrit is essential. Therefore a concerted effort to provide knowledge of Prakrit language is the need of the hour.

The vocabulary of the Prakrit consists of three types of words *Tatsama*, *Tadbhava* and *Deshya*. Of these three types, the Prakrit language aims at the study of *Tadbhava* words. Teaching of Prakrit generally aims to enable the participants to successfully attempt and

comprehend Prakrit words, derived from Sanskrit. In fact the pattern of this school will be to teach the Prakrit grammar through operational procedure employed in Sanskrit grammar. Sutras of Prakrit grammar used in the words will be explained. The method adopted here for learning Prakrit language is drilling system. The formation of each word is analyzed and rules of grammar applied in a particular word is explained.

After attending this course one will be able to cultivate the knowledge of Prakrit. The scholars working in the field of Indology will find a new area because of their access to original text and their effort to comparative studies will get a boost. In turn, Prakrit studies will find a new bunch of scholars who can handle the Prakrit texts. Those adept in Sanskrit can grasp Prakrit very easily. They may be engaged in editing and translation of the Prakrit texts. Ultimately the base of Prakrit scholars is bound to expand, which is the need of the hour. The exploration of original sources is likely to enhance the standard of the researches in Indology as a whole.

#### **Syllabus of the Workshop of Prakrit Grammar :**

#### **Prakrit Grammar, 8<sup>th</sup> Chapter of *Siddhahemaśabdānuśāsana* of Ach. Hemachandra.**

The Prakrit grammar here implies the rules of Maharashtri dialect, supposed to be the standard form of Prakrit. Other dialects are studied in the light of variations, which they have from Maharashtri. The syllabus is designed to give the knowledge of alphabets- vowels and consonants, genders, cases, rules of Prakrit on conjugation (sandhi), compound (samasa), change of gender etc. The phonetic changes- vowels, single consonants, conjuncts-- , elision of vowels, augmentation of nasal, declension of nouns, pronouns, numerals, modes, tenses, Prakrit substitutes for Sanskrit roots, *taddhita*, *krit* affixes, indeclinable particles, etc. Besides there will be special lectures on origin of Prakrit, its main dialects and their main characteristics.

100 : श्रमण, वर्ष ६४, अंक ४ / अक्टूबर-दिसम्बर २०१३

For the rules of Prakrit grammar 8th Chapter of *Siddhahemaśabdānuśāsana* of Ach. Hemchandra will be the base text.

**Eligibility for admission-** MA/Acharya in Sanskrit, Prakrit, Pali, Linguistics, Philosophy, History, Hindi (with Sanskrit in BA/ Shastri). However, candidates with Ph.D., teaching and working in Jaina studies will be given preference.

**Procedure of Selection of Participants.**

- Applications will be invited through circulars to universities, colleges and research institutes.
- Admission Committee will scrutinize the application forms received and sort out applicants for admission.

**Number of Participants** 30

**Number of Lectures** 50

**Schedule of Lectures:** Two sessions of two hours each during 1:00PM to 5:00PM

**Method of Teaching of Texts:**

- Sanskrit Rendering of Prakrit words occurred in the examples.
- Grammatical analysis of each word with rules (sutras) of Hemachandra Grammar. Method is to explain each step citing rules (sutras) through which Prakrit words are derived from its Sanskrit equivalent.
- Hindi Meaning of Prakrit words.

**Method of Evaluation:** Maximum Marks 300 (100 marks from one weekly test.

(100 marks final examination, 100 marks viva-voce).

**Test Certificates:** will be awarded to the participants on completion of the course and having passed all the oral and written tests.

**Eligibility for certificate:** 90 % attendance is essential.

**Certificate of Merit:** First three participants securing highest marks will be awarded Certificate of Merit with cash prize (amount decided by management of PV).

**Study Material:**

- a. For general grammar a booklet of Prakrit grammar will be provided.
- b. Participants will be advised to possess a copy of the Hindi translation Text with Hindi translation of Hemacandra grammar.

**General Instructions:**

- (a) Medium of instructions will be Hindi. (b) Photocopies of all Certificates/Degrees should be enclosed with the application form. (c) No participant will remain absent from his/her daily lectures, and weekly tests or final test etc.; and must obtain a minimum of 45% marks in aggregate.

Mentor of the Works	: <b>Pujya Munishri Prasamrati Vijayji M. S.</b>
Patrons	: <b>Sh. Ramesh Chand Barar, Dr. Shugan C. Jain, Sh. Dhanpat Raj Bhansali</b>
Advisor of the Workshop	: <b>Sh. Satish Jain (Treasurer, PV), Dr. D. N. Sharma, Dr. S. P. Pandey</b>
Director of the Workshop	: <b>Dr. Ashok Kumar Singh (+91 87655 08520)</b>
Co-ordinator of the Workshop	: <b>Dr. Navin Kumar Srivastav (+91 99560 40975)</b>
Organizing Committee	: <b>Rajesh Kr. Chaubey (Finc.), Om Prakash Singh (Hospitality), Dr. Rahul Kr. Singh (Acad.), Dr. Shrinetra Pandey (Publicity)</b>

\*\*\*\*

## साभार प्राप्ति

पार्श्वनाथ विद्यापीठ को निम्न पुस्तकें साभार प्राप्त हुई-

१. श्री सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासने अज्ञातकर्तृका दुण्डिका (षष्ठो विभागः)

सम्पा.-आचार्य श्रीविजयशील चन्द्रसूरि शिष्यः मुनि विमलकीर्तिविजयः,  
प्रका.-कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य नवम जन्मशताब्दी स्मृति संस्कार  
शिक्षण निधि, अहमदाबाद, ई. २०१३, मूल्य-४००/

२. श्रीश्राद्धगुणविवरण (सटीक भावानुवाद) (गुज.)

सम्पा.-पू. मूनिश्री धर्मतिलक विजय महा., प्रका. श्री स्मृति मन्दिर  
प्रकाशन, अहमदाबाद, ई. २०१३

३. जीवन की पावरफुल बातें जो रखे हमें हरदम आगे

लेखक- श्रीचन्द्रप्रभसागर, प्रका.-श्री विजयशाश्री फाउण्डेशन, बी.-७,  
अनुकम्पा द्वितीय, एम. आई. रोड, जयपुर (राज.), ई. २०१३,  
मूल्य-३०/

\*\*\*\*\*

## OUR IMPORTANT PUBLICATIONS

- |     |   |                      |
|-----|---|----------------------|
| 1.  | Prakrit - Hindi Kośa<br>Edited by Dr. K.R. Chandra  | ₹ 1200.00            |
| 2.  | Encyclopaedia of Jaina Studies<br>Vol. I (Art & Architecture)                               | ₹ 4000.00, \$ 100.00 |
| 3.  | Jaina Kumāra Sambhavam<br>Dr. Neelam Rani Shrivastava                                       | ₹ 300.00             |
| 4.  | Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa, Vol. I - Vol. VII,  | ₹ 1430.00            |
| 5.  | Hindi Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa, Vol. I - Vol. III<br>Dr. Shitikanth Mishra            | ₹ 1270.00            |
| 6.  | Jaina Pratimā Vijñāna<br>Prof. M.N.P. Tiwari  | ₹ 300.00             |
| 7.  | Jaina Dharma Darśana<br>Dr. Mohanlal Mehta  | ₹ 200.00             |
| 8.  | Sthānakavāsi Jaina Paramparā Kā Itihāsa<br>Dr. S. M. Jain & Dr. Vijaya Kumar                | ₹ 500.00             |
| 9.  | Studies in Jaina Philosophy<br>Dr. Nathmal Tatia  | ₹ 200.00             |
| 10. | Theaory of Reality in Jaina Philosophy<br>Dr. J. C. Sikdar                                  | ₹ 300.00             |
| 11. | Doctrine of Karma in Jaina Philosophy<br>H.V. Glasenapp                                     | ₹ 150.00             |
| 12. | Jainism: The Oldest Living Religion<br>Dr. Jyoti Prasad Jain                                | ₹ 40.00              |
| 13. | Scientific Contents in Prakrit Canons<br>Dr. N. L. Jain                                     | ₹ 400.00             |
| 14. | Pearls of Jaina Wisdom<br>Editors: Dr. S. M. Jain & Dr. S. P. Pandey                        | ₹ 120.00             |
| 15. | Studies in Jaina Art<br>Dr. U.P. Shah   | ₹ 300.00             |
| 16. | Dr. C. Krause: Her Life and Literature Vol. I<br>Editor : Dr. S. P. Pandey                  | ₹ 500. \$ 40-00      |
| 17. | Jainism in a Global Perspective<br>Editors: Dr. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey                 | ₹ 400.00. \$ 19.00   |
| 18. | Multi-dimensional Application of Anekāntavāda<br>Editors: Dr. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey   | ₹ 500.00, \$ 20.00   |
| 19. | Advanced Glossary of Jaina Terms<br>Dr. N. L. Jain  | ₹ 300.00             |
| 20. | Uttarādhyayana-Sūtra: Eka Pariśilana (Gujrati)<br>Dr. S. L. Jain & Trans. A. Santilal Joshi | ₹ 300.00             |
| 21. | Jains Today in the World<br>Pierre Paul Amiel   | ₹ 500.00             |
| 22. | Kaṣāyapāhūḍa (Chapters on Passion)<br>Dr. N. L. Jain  | ₹ 300.00             |
| 23. | Jaina Karmagrantha Part -I-V (Pt. Sukhlal Sanghvi)  | ₹ 400.00             |